-: व्यक्ति एवं समाज : पृष्ठभूमि :-

भूमिका:-- मनुष्य का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति मानी जाती है। उसकी कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवश्यकताएँ होती हैं जैसे- काम, क्षुधा एवं सुरक्षा इन अवश्यकताओं की पूर्ति की कमी के कारण मनुष्य में कुंठा और मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में सक्षम नहीं होता है। इन आवश्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि के लिए अपने दीर्घ विकास क्रम में मनुष्य ने एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित करने का सफल प्रयास किया है। ऐसी ही व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। समाज मनुष्यों का एक ऐसा संकलन है जिसर्में वे निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं।

समाज में विभिन्न प्रकार के प्राणी रहते हैं, जिनमें अंत:क्रियाएं होती रहती हैं। इन अंत:क्रियाओं के भौतिक और पर्यावरणात्मक दोनों ही मूल आधार माने जाते हैं। जिसमें से मनुष्य अधिकतम संतुष्टि की ओर उन्मुख होता है तथा वह सार्वभौमिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सामाजिक प्रणाली में मनुष्य को उसको कार्य,पद,दंड और पुरस्कर आदि उसकी योग्यता तथा गुणों के आधार पर प्रदान किए जाते हैं। इन अवधारणाओं की विसंगति की स्थिति में मनुष्य समाज की मान्यताओं और विधाओं के अनुसार अपना व्यवस्थापन नहीं कर पाता और उसका सामाजिक व्यवहार विफल होता चला जाता है तथा वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति से समायोजन का प्रयास करता रहता है।

मनुष्यों द्वारा सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाज मे स्थापित विभिन्न संस्थाएँ इस प्रकार कार्य करती हैं जिससे एक इकाई के रूप में समाज का संगठन अप्रभावित रहता है तथा समाज मे होने वाले क्रियाकलाप ही समाज को आपस में बाँध कर रखते हैं। जिससे समाज मे रह रहे लोगों में आपसी प्रेम-सद्भाव बना रहता है तथा वे सभी एक-दूसरे के काम आते रहते हैं और एक-दूसरे की दिन -प्रतिदिन सहायता भी करते रहते हैं।

मंजूर एहतेशाम के कथा-साहित्य में सामाजिक सद्भावना के अध्ययन से पूर्व हमारे लिए व्यक्ति एवं समाज की पृष्ठभूमि का अध्ययन करना अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। इनके कथा-साहित्य की सामाजिक सद्भावना में व्यक्ति और समाज की पृष्ठभूमि को निम्न बिंदुओं द्वारा विस्तृत रूप प्रदान करने का हमने प्रयास किया है :-

१:- व्यक्ति और समाज का अंतर्संबंध।
२:- समाज का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकता।
३:- व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व।
४:- समाज का व्यक्ति के प्रति दायित्व।
५:- सद्भावना के विविध रूप :- ५.१:- पारिवारिक सद्भावना।
५.२:- सामाजिक सद्भावना।
५.३:- धार्मिक सद्भावना।
५.४:- साम्प्रदायिक सद्भावना।
५.५:- सांस्कृतिक सद्भावना।
५.६:- भाषाई सद्भावना।
५.७:- राष्ट्र के प्रति सद्भावना।

उपर्युक्त सद्भावना के रूपों को विस्तृत रूप प्रदान करने से पूर्व व्यक्ति तथा समाज का आंकलन करना अनिवार्य होगा:-

व्यक्ति :- व्यक्ति पृथ्वी की एक ऐसी संपदा है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है यानी आप और हम। व्यक्ति एक ऐसा बुद्धिजीवी प्राणी है जो अपने भाव तथा विचारों को प्रकट करने में पूर्ण रूप से समर्थ होता है। उनकी विचारधारा के अनुसार वे अच्छे तथा बुरे होते हैं। इन सभी व्यक्तियों में अच्छा तथा बुरा सोचने की तथा समझने की पूर्ण क्षमता होती है। इसके लिए प्रसिद्ध विचारक **अरस्तू** ने बहुत समय पूर्व कहा था कि **" मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है"**[1] अर्थात् मनुष्य समाज में रहकर अपने भाव तथा विचारों को व्यक्त करता है तथा अपने सभी सामाजिक कार्यों को सामाजिक रूप में निर्वहन करता है।

व्यक्ति समाज में रहकर ही लोगों से अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है एवं अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को समाज में रहकर पूर्ण करता है यह एक ऐसा प्राणी है जो अपनी इच्छाओं के अनुसार ही कार्य करता है एवं अपनी सहूलियत के अनुसार सभी कार्य करवाता भी है। जिस समाज में हम रहते हैं उस समाज में प्रत्येक व्यक्ति सुबह उठकर अपने कार्यों को संपन्न करने के लिए समाज में जाता है तथा अपनी पूरी दिनचर्या सामाजिक व्यवहार के रूप में संपन्न करता है।

मंजूर एहतेशाम जी के कथा-साहित्य में व्यक्ति के व्यक्तित्व को इस रूप से व्याख्यायित किया गया है जो प्रत्येक व्यक्ति समाज में करता है तथा भूतकाल से करता चला आ रहा है। इन्हीं कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके लेख अपने आप में एक सजीवता लिए हुए हैं तथा इनके कथा-साहित्य में व्यक्ति के महत्व को भी दर्शाया गया है। इनका यह कहना है कि--

" मेरी रचनाओं में मेरा अनुभव समाहित हैं।"[2] तथा जब पाठक इनकी रचनाओं को पढ़ता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है की वह पात्र सच में ही पाठक के सामने अभिनव प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष गुण तथा विशेषताएँ होती है जो उसे दूसरे व्यक्ति से अलग करती है। इन्हीं गुणों और विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होता है। व्यक्ति के इन्हीं गुणों का समुच्चय ही व्यक्ति का व्यक्तित्व कहलाता है। व्यक्तित्व एक स्थिर अवस्था ना होकर एक गत्यात्मक अवस्था है जिस पर परिवेश का प्रभाव पड़ता रहता है जिसका ध्यान बहुत ही अच्छे रूप में एहतेशाम जी ने अपनी रचनाओं को रचते समय रखा है तथा व्यक्ति के आचार-विचार, व्यवहार, क्रियाएं और गतिविधियों में व्यक्ति का व्यक्तित्व झलकता है व्यक्ति का समस्त व्यवहार उसके वातावरण या परिवेश में समायोजन करने के लिए होता है और कुछ ऐसा ही समायोजन मंजूर एहतेशाम जी ने अपनी साहित्यिक रचनाओं में किया है जिसकी पुष्टि इन पंक्तियों द्वारा हो जाती है :-

" बहुत सारी खूबियां थी, उनके अनुसार, डॉक्टर मगरमच्छ में । बेवजह और फालतू इलाज नहीं करता था ; कम दवाई लिखता था ; काम को तिजारत नहीं समझता था ; रमजान में पाबंदी से रोज़े रखता था (ऐसा काम जो भाई मियां खुद नहीं कर पाते थे); अब्बा के इलाज में बेहद मेहनत की और घरवालों का साथ दिया अम्मा जीते-जी उसके अलावा किसी डॉक्टर की दवा नहीं खाती थी । किन्हीं अर्थों में वह शाहजहाँ के ताजमहल से कहीं खूबसूरत और काम की इमारत था, हमारे शहर में, हम लोगों के बीच- उसे अगर हमारी यादगार भी कहा जाए तो बेजा न होगा । यही कारण था कि जब पहली बार जमीर अहमद खान को डॉक्टर को दिखाने का तय किया था तो भाई मियाँ की पहली और आखरी पसंद मगरमच्छ को ही चुना गया था । "[3]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. मगरमच्छ से एक परिवार का किस तरह का व्यवहार है जो कि उसके अलावा समाज में किसी अन्य डॉक्टर से इलाज कराने के लिए सहमत नहीं होता डॉ.मगरमच्छ ही उनके पूरे परिवार के लिए एक ताजमहल रूपी इमारत की तरह मूल्यवान है जिसके सामाजिक व्यवहार के रूप से ही उसके अलावा किसी और से इलाज नहीं करवाता तथा ज़मीर अहमद खान को भी उसी डॉक्टर के पास इलाज कराने की सलाह दी जाती है और उसी से इलाज करवाना तय किया जाता है।

इन पंक्तियों की पुष्टि करते हुए बकौल डॉ. अश्वनी कुमार जी के अनुसार **"जनसाधारण में व्यक्ति का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूप से लिया जाता है, परंतु मनोविज्ञान में व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के रूप गुणों की समष्टि से है अर्थात् व्यक्ति के बाहरी आवरण के गुण और आंतरिक तत्व दोनों को माना जाता है।"**[4] इससे हमें व्यक्ति के संदर्भ में उसके रूप, गुण और उसके बाहरी तथा आंतरिक आवरण के रूप-स्वरूप का पता चलता है

हिन्दी शब्दसागर के अनुसार "व्यक्ति किसी समूह या समाज का अंग समझा जाता है मानव शिशु संसार में पशु की आवश्यकताओं से युक्त एक जैविक अवयव के रूप में आता है।"[5] इसीलिए **वेगहार** ने कहा है **" मनुष्य पशु के रूप में विचरण करने वाला प्राणी है।"[6] मानक हिंदी कोश** के अनुसार **-" व्यक्ति वह है जिसका कोई अलग स्वतंत्र रूप व सत्ता हो ।"[7] पुरुषोत्तम दुबे** जी के हिन्दी उपन्यास व्यक्ति चेतना और स्वतंत्रोत्तर में व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि - "व्यक्ति की एक स्वतंत्र अविभाज्य सत्ता मानी गई है। तथ्य एवं सत्य की दृष्टि से जो एक हो, जिसे वियोजित न किया जा सके, जिसका अस्तित्व स्वतंत्र अविभाज्य रूप में हो, संस्था की दृष्टि से जो अपने ही वर्ग में अन्यों से अलग अपनी विशिष्टता रखता हो, अपने गुणों लक्षणों चारित्रिक विशिष्टताओं के कारण जो दूसरों से अलग किया जा सकता है वही व्यक्ति है।"[8]

इन सभी के साथ **हृदय नारायण मिश्र** और **जमुना प्रसाद अवस्थी** ने भी व्यक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "प्रत्येक व्यक्ति एक पृथक इकाई है वह एक पिंड है, मिट्टी का बना सर्वश्रेष्ठ पुतला है। उसकी अपनी इच्छाएं हैं, भावनाएं हैं और अपने विचार हैं।"[9]

समाज:- समाज शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को जानना आवश्यक है अर्थात् व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'समाज' शब्द 'सम + अज '[10] के योग से निष्पन्न हुआ है तथा विभिन्न शब्दकोशों में इसका अभिप्राय 'सभा'[11], 'समुच्चय'[12],'बहुत से लोगों का झुंड या गिरोह'[13],'एक जगह पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों या समूह या दल'[14], ' पशुओं से भिन्न लोगों का समूह, किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की गई सभा, सोसाइटी या संघ इत्यादि दिया गया है समाज के संदर्भ में प्रस्तुत किए गए उपयुक्त अर्थ समाज की सही कल्पना करने में असमर्थ है बोलचाल की सामान्य भाषा में हम समाज शब्द का उपयोग जिस अर्थ में करते हैं समाज का समाजशास्त्रीय अर्थ उससे बहुत ही भिन्न है इसलिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले समाज के सामान्य तथा समाज शास्त्रीय अर्थ को हमें पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए ।

समाज शब्द का सामान्य रूप में अर्थ:- हम सभी किसी-न-किसी संदर्भ में समाज शब्द का प्रयोग प्रचुरता के साथ करते चले आ रहे हैं साधारणतया हम समझते हैं कि समाज का तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी संगठन से है जब हम हिंदू समाज, ईसाई समाज, अथवा मुस्लिम समाज जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं तब यहाँ पर समाज से हमारा अभिप्राय व्यक्तियों के एक ऐसे ही संगठन से होता है। जो किसी एक धर्म से संबंधित हो। इसी तरह क्षेत्र,भाषा और प्रजाति से संबंधित लोगों को भी एक समाज के रूप में स्पष्ट कर देना सामान्य सी बात है कभी-कभी समान विशेषताओं अथवा समान व्यवसाय से संबंधित लोगों को भी एक समाज के रूप में स्पष्ट कर दिया जाता है इसी कारण हम अक्सर शिक्षक समाज, विद्यार्थी समाज, मजदूर समाज तथा दलित समाज जैसे शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं विभिन्न सामाजिक-विज्ञानों में भी समाज का अर्थ हमें भिन्न रूप मे देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए सर्व विदित है की राजनीति-शास्त्र में समाज को एक राजनीतिक समूह के रूप में स्पष्ट किया जाता है एवं अर्थशास्त्र में समाज का तात्पर्य कुछ विशेष तरह की आर्थिक

क्रियाएं करने वाले लोगों के समूह में समझा जाता है तथा मानव शास्त्र में आदिवासी समुदाय को एक विशेष समाज के रूप में देखा जाता है जबकि मनोविज्ञान में मानसिक अन्याय करने वाले लोगों के समूह को समाज कह दिया जाता है वास्तव में यह सभी शब्द वैज्ञानिक हैं इनमें से कोई भी अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से अपने-आप में संपन्न नहीं है एवं समाज के सामान्य अर्थ को बताते हुए **आर. टी. लापियरे** जी कहते हैं कि-- "समाज मनुष्य के एक समूह का नाम नहीं है बल्कि उनमें तथा उनके बीच में उत्पन्न होने वाली अंतर क्रियाओं के रूप में जटिल प्रतिमान को कहते हैं।"[15]

<u>समाज का समाजशास्त्रीय अर्थ:-</u> समाज के समाजशास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ पंक्तियाँ यह है कि-- "समाजशास्त्री अर्थ में व्यक्तियों को समाज नहीं कहते अपितु समाज के व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों की पारस्परिक व्यवस्था की संरचना को समाज कहते हैं।"[16] इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर भी भिन्न-भिन्न समाज शास्त्रियों द्वारा दी गई समाज की कुछ मुख्य परिभाषाओं को हम यहाँ उद्धरत करने का प्रयास कर रहे हैं।

-: पाश्चात्य समाजशास्त्रीयों द्वारा दी गई समाज की प्रमुख परिभाषाएँ:-

<u>मैकाइवर तथा पेज</u> :- इनके अनुसार "समाज कार्य प्रणालियों और चलने की अधिकतर-सत्ता और पारस्परिक सहायता की अनेक समूह श्रेणियों तथा मानव व्यवहार नियंत्रण अथवा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है इस निरंतर परिवर्तनशील और जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं यह सामाजिक संबंधों का एक ताना-बाना है और यह सदा बदलता रहता है।"[17]

<u>गिडिंग्स :-</u> इनके अनुसार " समाज स्वयं में एक संघ अथवा संगठन है अथवा औपचारिक संबंधों का ऐसा योग है जिसमें सहयोग देने वाले लोग पारस्परिक संबंधों द्वारा जुड़े रहते हैं।"[18] इस प्रकार गिडिंग्स ने समाज के निर्माण में व्यक्ति तथा सामाजिक संबंधों को समान रूप से महत्वपूर्ण माना है।

<u>रयुटर</u> :- इनकी विचारधारा के अनुसार " समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की संपूर्णता का बोध कराती है।"[19] इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि संबंधों की समग्रता से किसी अमूर्त व्यवस्था का निर्माण होता है उसी को हम समाज कहते हैं और उसमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

<u>पारसन्स</u> :- इन्होंने समाज को वैज्ञानिक आधार पर परिभाषित करते हुए कहा है कि " समाज को उन मानवीय संबंधों की जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, चाहे वे यथार्थ हो या केवल प्रतीकात्मक । "[20] इस प्रकार पारसन्स ने यह स्पष्ट किया है कि समाज का निर्माण केवल उन्हीं संबंधों के द्वारा होता है जो किसी क्रिया के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं क्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए इन्होंने बताया कि क्रिया का अभिप्राय केवल उन्हीं कार्यों से है जो किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के साधन में किए जाते हैं इस प्रकार कोई क्रिया चाहे प्रत्यक्ष हो या उसका रूप केवल

प्रतीकात्मक हो, इसके फल स्वरूप जिन सामाजिक संबंधों की स्थापना होती है उन्हीं से समाज का निर्माण होता है तथा सामाजिक तत्वों को एक दिशा प्राप्त होती है जिससे समाज का विकास होता है।

<u>गिन्सबर्ग</u> :- यह समाज की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि " समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो अनेक संबंधों और व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित है तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के संबंधों द्वारा बंधे हुए नहीं हैं अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न है। "[21] इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि समाज का निर्माण व्यक्तियों द्वारा ना होकर व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले संबंधों के द्वारा होता है इसके अतिरिक्त विभिन्न समाज एक-दूसरे से इसलिए अलग होते हैं क्योंकि उनमें सामाजिक संबंधों तथा व्यवहारों की प्रकृति एक दूसरे से भिन्न होती है इसी वजह से प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर अपनी-अपनी क्रियाएं करता है तथा अपने विकास के लिए समाज में रहकर प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के साथ सद्भावना रखता है।

<u>एल.विल्सन एवं डब्ल्यू. एल. कोल्फ :-</u> इनके शब्दों में " समाज एक ऐसा समूह है जिसके अंतर्गत सदस्य सामान्य जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं एवं दशाओं को पूर्ण करता है। "[22]

<u>राइट :-</u> के अनुसार " मनुष्य के समूह को समाज नहीं कहा जा सकता, बल्कि उस समूह के अंतर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था का नाम समाज है।"[23]

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों ने जो परिभाषाएँ समाज के संदर्भ में दी हैं वह बहुत ही विख्यात है जिनका हमने कई बार अध्ययन किया है इनसे इतर भारतीय विद्वानों द्वारा भी समाज के संदर्भ में कई परिभाषाएँ दी गई हैं जिनका पाठक अनुसरण करते चले आ रहे हैं उनमें से कुछ प्रसिद्ध समाज शास्त्रियों की परिभाषाएँ यहाँ उद्घाटित की जा रही है।

-: भारतीय विद्वानों द्वारा दी गई समाज की प्रमुख परिभाषाएँ :-

डॉ. नगेन्द्र :- इनके अनुसार " समाज से अभिप्राय सामुदायिक जीवन की ऐसी अनवरत एवं नियामक व्यवस्था से है, जिसका निर्माण व्यक्ति पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के निमित्त जाने-अनजाने कर लेता हैं।"[24]

डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद :- समाज को परिभाषित करते हुए ये लिखते हैं कि-- " समाज सामाजिक रिश्तो का जाल है।"[25] यहाँ समाज को मैकाइवर की तरह रिश्तों का जाल कहते हुए यह कहा गया है कि समाज ही मानव जीवन को संगठित व नियंत्रित करता है तथा उसके जीवन को सुव्यवस्थित बनाता है।

डॉ. संपूर्णानंद :- इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक समाजवाद में समाज की परिभाषा देते हुए कहा है कि - " समाज अजन्ति जना: आस्मिन इति"[26] अर्थात् जिसर्मे लोग मिलकर एक साथ गति से चले वही समाज है। एक साथ चलने का अर्थ फौजी सिपाहियों की भांति किसी एक दृश्य दिशा में कदम मिलाकर चलना नहीं है तात्पर्य उन लोगों से है जो उस समाज के अंग होते हुए सबकी परिस्थिति अलग होते हुए भी उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक से हो।

कैलाश नाथ जेटली :- ये समाज को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि-- " समाज को व्यक्तित्व का प्रसार मानते हुए समाज का संबंध व्यक्ति से जोड़ते हैं।" [27]

विश्वनाथ प्रसाद वर्मा :- इनके मतानुसार-" मानव समाज की इकाई है और समाज के बिना वह पूरा विकसित मनुष्य नहीं हो सकता है।" [28] यहाँ मानव के लिए समाज की आवश्यकताओं को बहुत ही सुंदर रूप में स्पष्ट तरीके से व्यक्त किया गया है जिससे व्यक्तित्व, समाज के अंतर्संबंध को भी देखा जा सकता है।

डॉ. शिवकुमार मिश्र:- मिश्र जी समाज की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि "समाज मानव के सम्मिलित समूह को कहते हैं - समाज मानव से मिलकर बना है अतः समाज का हित-चिंतन उसके हित साधन का अर्थ मानव के हित की चिंता उसका हित साधन हो जाता है।"[29]

<u>१:- व्यक्ति एवं समाज का अंत: संबंध:-</u>

व्यक्ति एक परिवार में जन्म लेता है तो सबसे पहले परिवार के प्रति उसके क्या-क्या दायित्व एवं कर्तव्य हैं उन सबका वह पहले वहन करता है उसके पश्चात् में व्यक्ति परिवार से निकलकर समाज में जाता है तथा अन्य व्यक्तियों से मेल मिलाप बढ़ाता है और वह समाज में अपनी एक पृष्ठभूमि तैयार करता है जिससे समाज में उसे जाना तथा पहचाना जाए और उसके साथ ही समाज के लिए उसके दायित्व भी बढ़ने लगते हैं तथा उसे अपने दायित्वों का वहन करना पड़ता है और समाज के प्रति उसके क्या-क्या दायित्व है और उन दायित्वों को समझकर वह उन दायित्वों का पालन करता है इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपनी-अपनी पहचान बनाता है चाहे वह किसी भी क्षेत्र से जुड़ा हो उसकी अपने क्षेत्र समाज में एक अलग ही पहचान होती है जिससे वह समाज में जाना पहचाना जाता है चाहे वह एक चिकित्सक हो, वकील हो, अध्यापक हो या सैनिकहो उसे उसी के व्यवसाय या समाज में उसकी प्रतिष्ठा से ही उसे जाना जाता है।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं की प्रसिद्ध विचारक अरस्तू ने बहुत समय पूर्व कहा था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अर्थात् मनुष्य के क्रियाकलाप समाज से संबंधित है और समाज पर ही उसका अस्तित्व तथा विकास निर्भर करता है यूं तो व्यक्ति को माता-पिता से कुछ शारीरिक व मानसिक विशेषताओं से युक्त एक शरीर प्राप्त होता है परंतु उस शरीर को सामाजिक विशेषताओं या गुणों से व्यक्तित्व प्रदान करना समाज का ही काम होता है इस दृष्टि से व्यक्ति समाज पर अत्यधिक निर्भर रहता है परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम व्यक्तियों को निकालकर समाज की कल्पना कर सके व्यक्तियों के बिना समाज की कल्पना या यह कहें कि व्यक्तियों के बिना समाज का अस्तित्व नहीं हो सकता हम जानते हैं कि समाजशास्त्र का अभिप्राय सामाजिक संबंधों की व्यवस्था से है जैसा कि हम पूर्व पुष्टि तथ्य दे चुके हैं तथा यह सामाजिक संबंधों की व्यवस्था शून्य में नहीं वरन् व्यक्तियों के मध्य पनपती है व्यक्तियों के बिना सामाजिक संबंधों की व्यवस्था एवं समाज का कोई अस्तित्व नहीं है एवं व्यक्ति का समाज के साथ अंतर्संबंध की पुष्टि करते हुए **किंग्सले डेविस** ने अपनी पुस्तक **'ह्यूमन सोसाइटी'** में लिखा है कि -" समाज को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए प्रजनन, पोषण और संरक्षण के माध्यम से जनसंख्या की देखभाल करनी पड़ती है एवं समाज की एकता तथा पारस्परिक निर्भरता को बनाए रखने के लिए लोगों के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य निर्धारित करने पड़ते हैं।"[30]

वास्तव में समाज के संपर्क में खुद से ही व्यक्ति छोटी-मोटी से लेकर बड़ी से बड़ी बातें सीखता है जैसे खाने-पीने का ढंग, बोलने-चालने का व्यवहार, पाठ-पूजन के आयाम, समाज में लोगों के साथ उठना बैठना, एक-दूसरे का सहयोग एवं सद्भावना तथा अनुकरण आदि यह सब कुछ व्यक्ति समाज से ही सीखता है तथा समाज के साथ अंत: क्रियात्मक संबंध होने के कारण ही व्यक्ति

एक आदर्श व्यक्ति बनता है तथा वह समाज में पढ़ना-लिखना सीखता है ज्ञान प्राप्त करता है मकान बनाता है और उसमें रहता है एवम् मशीनों को भी अपने नियंत्रण में रखना सीखता है अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी बनने के लिए सामाजिक विरासत पर अत्यधिक निर्भर रहता है क्योंकि उसकी पूरी दिनचर्या समाज में ही रहकर पूर्ण होती है।

मनुष्य एवं समाज के बीच के रिश्ते को स्पष्ट बयान किए बिना मनुष्य की समस्या वैज्ञानिक रूप से हल नहीं की जा सकती, जैसे कि प्राथमिक सामूहिकता-परिवार, नाटक या निर्देश समूह, उत्पादन टीम और अन्य प्रकार की औपचारिक या अनौपचारिक सामूहिकता के रूप में देखा गया है कि परिवार में व्यक्ति अपनी कुछ विशिष्ट सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए या पूरा करने के लिए समाज में जाता है तथा वहाँ जाकर वह कुछ नए क्रियाकलाप करता है जिससे उसका तथा उसके परिवार का भरण-पोषण अर्थात् उसके परिवार का जीवन निर्वाह हो सके उसकी रोज़मर्रा की जिंदगी में समाज के कई व्यक्ति उसकी सहायता करते रहते हैं तथा वह भी समाज में लोगों के संग अपना तालमेल बिठा कर अपनी दिनचर्या को पूर्ण करता है जब व्यक्ति संध्या होने पर घर वापस आता है तो उसे अपने बच्चे भी सामाजिक क्रिया करते प्रतीत होते हैं तथा वे अपने बच्चों को भी सामाजिक परिवेश का ज्ञान प्रदान करता है जिससे उसके बच्चे अपने नैतिक मूल्यों तथा व्यवहार को मन में अवशोषित करते हैं तथा वह बालक भी समाज में रहकर अपने अधिकार तथा कर्तव्य का वहन करते हैं।

व्यक्ति जब समाज में अंतर क्रिया करता है तो उसे यह ज्ञात होता है कि उसके कर्तव्य क्या-क्या है तथा समाज में जब वह किसी से मेलजोल बढ़ाता है तो वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वयं इच्छा से स्वीकार करता है तथा उनके व्यवहार तथा उनके गुणों को भी अपने अंदर समाविष्ट करता है एवं किसी भी कार्य को करने के लिए समाज में एक समूह की आवश्यकता होती है जिससे समाज में उसका व्यवहारिक रूप और सुंदर बनता चला जाता है इसकी पुष्टि के लिए हम हमारे जीवन की दिनचर्या के उदाहरण को ले रहे हैं जिससे हम सभी लगभग परिचित हैं - इसकी पुष्टि के लिए हम एक व्यवसाय के एक समूह को ले सकते हैं यह लोग अन्य हितों के लिए व्यवसाय के साथ जुड़ जाते हैं तथा वे कुछ राजनैतिक नैतिक सौंदर्य वैज्ञानिक और अन्य मूल्यों का आदान-प्रदान एक दूसरे के साथ करते रहते हैं जिसमें एक समूह जनमत का निर्माण करता है तथा मन को तेज करता है और चरित्र को एक रूप प्रदान करता है तथा अपनी इच्छाओं को ध्यान में रखकर भी वह कार्य करता है तथा समूह के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के स्तर तक पहुंच जाता है यह ऐतिहासिक रचनात्मकता का एक जागरूक विषय है जिसके आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि समूह व्यक्तित्व का पहला आकार होता है तथा समूह को समाज द्वारा आकार दिया जाता है जिससे हर व्यक्ति के जीवन की गति सुव्यवस्थित रूप से चलती रहती है।

मनुष्य और समाज की एकता एक व्यक्ति को संपूर्ण बौद्धिक समाज के जीवन की स्पष्ट छाप देती है तथा इसकी सभी व्यवहारिक गतिविधियां मानवता की ऐतिहासिक रूप से बनाई गई सामाजिक प्रथा को व्यक्तिगत अभिव्यक्ति प्रदान करती है जो कि समाज में निरंतर हमेंशा क्रियाशील रहती है प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र होता है जहाँ वह ना केवल शासक वर्ग और उसकी पार्टी के लक्षणों को प्राप्त करने के साधन के रूप में कार्य करता है बल्कि समय समाज का मुख्य रूप ही लक्ष्य होता है मैं अपनी सभी योजनाओं और प्रावधानों का उद्देश्य रखता है तथा व्यक्ति की मुक्ति के लिए प्रमुख शर्त यह है कि एक व्यक्ति को दूसरे के द्वारा भूख और गरीबी के शोषण का उन्मूलन और मनुष्य की गरिमा की भावना को उन्हें सपना यही व्यक्ति की मुक्ति का साधन माना जाता है व्यक्ति समाज की रचनात्मक गतिविधियों का सर्वोच्च आदर्श होता है क्योंकि समाज में जो व्यक्ति कार्य करता है वह अपने अनुभव तथा अपनी मेहनत के द्वारा ही उस कार्य को पूर्ण करता है।

मंजूर एहतेशाम जी के कथा-साहित्य में इस संबंध को बहुत ही व्यापक रूप प्रदान किया गया है जिसमें इनका हर पात्र समाज से अछूता नहीं रहा है इनके सभी साहित्य में व्यक्ति एक सामाजिक सद्भाव को लेकर ही चलता है उस से बंधा हुआ प्रतीत होता है जिसमें व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंध को देखा जा सकता है चाहे वह इनका कोई भी उपन्यास हो या कहानी एक समाज से संबंध बनाए रख कर चलने में पूर्ण रूप में पाई गई है इस कथन की पुष्टि के लिए इनके उपन्यास 'सूखा बरगद' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है :-

"खुशनसीब लगते हैं मुझे यह लोग जो यूं बहाने तलाश कर कहीं भी इकठ्ठे हो जाते हैं एक-दूसरे को अपने अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर दिखाते हैं, मुंह देखी तारीफ करते हैं और पीठ मुड़ते ही एक-दूसरे का मजाक उड़ाने, बुराइयाँ करने में जुट जाते हैं। आपस में लड़ते-भिड़ते भी हैं, एक-दूसरे के काम भी आते हैं, किसी को बनते देखकर अचरज भी करते हैं, उसकी बर्बादी पर दिल-ही-दिल में खुश होते हैं, मगर हर हाल में कोशिश यही करते हैं कि रिश्ता जरूर कायम रह सके। कायम ही नही और पुख्ता भी हो सके।"[31]

मंजूर एहतेशाम जी के साहित्य में देखा जाए तो इनके इस सूखा बरगद उपन्यास में राशिदा नामक पात्र एक ऐसी पात्र हैं जो कि समाज के साथ जुड़ कर अपना संबंध स्थापित किए हुए प्रतीत होती हैं जो कि उनकी रचनाओं में व्यक्ति का समाज से अंतर्संबंध स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।

एहतेशाम जी की कहानियां तो इस सामाजिक सद्भाव से परिपूर्ण है इनकी कई कहानियों में व्यक्ति का समाज के साथ अंतर्संबंध को दर्शाया गया है इनके तीनों कहानी संग्रहों में व्यक्ति का समाज के साथ बहुत ही सुंदर संबंध व्यक्त किया गया है चाहे वह इनका कहानी संग्रह 'तसबी' हो 'तमाशा' हो या ' रमजान में मौत' की हिंदी कहानियों में समाज के लगभग सभी सद्भावों को इन्होंने रखा है वह चाहे पारिवारिक सद्भाव हो धार्मिक सद्भाव हो, भाषाई सद्भाव हो या सांस्कृतिक सद्भाव इन्होंने अपनी सभी रचनाओं में सद्भावना के इन सभी पहलुओं को बहुत ही

मार्मिक रूप से समाहित किया है। इसकी पुष्टि के लिए इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह 'रमजान में मौत' की कहानी की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धरत है -- " ज़िन्दगी में लेने-देने के कुछ कानून शायद लिखे ही नही गए। यह भी क्या कि जो कुछ हमें तर्के-विर्से मिल जाए, हम उसे अपना समझ, जब देने के तरीके ढूंढने लगे। ये न लिखे गए कानून उन लोगों के लिए है, जो सिर्फ उस चीज को छूते हैं जिस पर अपना हक तस्लीम करते हो, जो उन्होंने दांव पर लगाकर वसूल की हो। बाकी सब तो जमाने की तरफ से लादा गया बोझ है।"[32]

अंतत: उपर्युक्त पुष्टि तथ्यों के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार भी अपने कथा-साहित्य में व्यक्ति और समाज का अंतर्संबंध दर्शाते आए हैं जिससे उनकी रचना एक जीवंत रूप प्राप्त करती है तथा पाठक के लिए वह सद्भावना का रूप ले लेती है।

२:- <u>समाज का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकता :-</u>

व्यक्ति तथा समाज में अंत: संबंधों के पश्चात् अब हम समाज के स्वरूप और उनकी आवश्यकताओं पर एक दृष्टि केंद्रित करने का प्रयास करेंगे ।

<u>२.१:- समाज का स्वरूप :-</u> एक समाज सामाजिक संपर्क में शामिल लोगों का वह समूह है जो भौगोलिक व सामाजिक क्षेत्र को बांटता है समाज विशिष्ट व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच सामाजिक संबंधों के प्रारूप की एक अलग ही विशेषता मानी जाती है तथा समाज को एक ऐसा परिवार कहा जा सकता है जिसमें सभी एक दूसरे से सामंजस्य बनाए रखते हैं। अक्सर सामाजिक-विज्ञान में एक बड़ा समाज अक्सर उपसमूह में स्तरीकरण या वर्चस्व के प्रारूप को अभिव्यक्त करते चले आ रहे हैं। भूमि पर मानव के जन्म के पश्चात् उसकी अपनी ही प्राकृतिक आवश्यकताओं ने उस की सामाजिक चेतना को खुद-ब-खुद जागृत किया था तथा यही सामाजिक चेतना सामाजिक व्यवस्था के विकास का कारण बनती चली आ रही है। सर्वविदित है कि कालांतर में यह व्यवस्थाएं अपनी स्थानीय आवश्यकताओं तथा सदस्यों के चिंतन आदि के आधार पर इन्होंने अपना भिन्न-भिन्न स्थान प्राप्त कर लिया था इसी क्रम में भारतीय समाज का संपूर्ण स्वरूप भी उसके विकास क्रम में देखा जाए या फिर उसके ह्रास क्रम में वह आज भी अनेकों परिस्थितियों से गुजरता चला आ रहा है तथा हमारे इस भारत प्रदेश में वर्ण व्यवस्था बहुत ही प्राचीनतम व्यवस्था मानी जाती है जो कि आज तक प्रचलित है और हम यह भी कह सकते हैं कि हमारे भारत देश में इसी के द्वारा समाज के स्वरूप का निर्धारण होता चला आ रहा है। इसके कुछ पुष्टि तथ्य निम्नलिखित है :-

"वर्ण- व्यवस्था यद्यपि भारत की प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण संस्था है। परंतु प्रारंभिक काल में वह रूढ अथवा अनुदार नहीं थी । यह वैदिक काल में प्रारंभ हुई । यह सामान्य स्वीकृति तथ्य है।"[33] "ऋग्वेद में प्राप्त पुरुष - सूक्त में इस विभाजन की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है।"[34] "जातक भी वर्ण - व्यवस्था को समाज के स्वरूप को निर्धारित करने वाले कारक के रूप में स्वीकार करते हैं जातक कथाओं के अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने विभिन्न वर्णों के कार्य एवं उत्तरदायित्व निर्धारित किए ।"[35] "ऋग्वैदिक कालीन समाज में ब्राह्मण राजन ने वैश्य एवं सूत्र का अस्तित्व समाज के चतुर्वर्ग के सदस्य था। व्यक्ति के अनुसार अपने वर्ण को त्याग कर दूसरे वर्ण में सम्मिलित हो सकता था ।"[36] एवं प्रारंभिक काल में प्रथम तीन वर्गों के बीच कोई निश्चित विभाजन भी नहीं था बल्कि' वर्ण' के नाम पर यदि विभाजन था तो सिर्फ 'आर्य' तथा 'दास' वर्णों के बीच ।

समय बीतता गया समय बीतने के साथ-साथ ही व्यवस्था बहुत ही उदार होती चली गई तथा समाज का स्वरूप भी अपने आप में बहुत ही कठोर होता चला गया । यह हम सामान्य रूप से देख सकते हैं की व्यवस्था जब एक बार अस्तित्व में आ जाए तो उसके पश्चात् वह उदार ना रहकर स्वयं अपना पोषण करना आरम्भ कर देती है तथा उसके साथ-साथ वह सुधार अथवा

परिवर्तन के प्रति सहिष्णु नहीं रह पाती । " यही बात हमारे बुद्ध कालीन समाज पर भी लागू होती है धीरे-धीरे वर्ण व्यवस्था ने अनुदार होकर जाती व्यवस्था का रूप धारण कर लिया और अधिक से अधिकतर कठोर होती गई यहाँ तक कि देवगण भी चतुर्वर्ण में विभाजित माने जाने लगे ।"[37] " वर्ण - व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था ।"[38] " परंतु रिज़ डेविड ने ' क्षत्रिय ' को उच्च माना है।"[39] " ' मधुर अवंति - पुत्र ' को ब्राह्मणों को श्रेष्ठ वर्ण , शुक्ल वर्ण , पवित्र एवं ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्मा का प्रतिनिधि करते हुए पाते हैं।"[40] " यही कठोरता बुद्ध कालीन समाज में भी परिलक्षित होती है बुद्ध कालीन समाज रूढ़ एवं अनुदार हो गया था । समाज का बहुसंख्यक वर्ग ब्राह्मण धर्म एवं व्यवस्था का अनुयायी था । बुद्ध कालीन समाज में वर्ण-भेद अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गया था । दोनों उच्च वर्ण - ब्राह्मण एवं क्षत्रिय स्वयं को श्रेष्ठ धर्म मानने की प्रतिस्पर्धा में संलग्न थे ।"[41]

" बौद्ध जातक साहित्य में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के साथ वेश्यों को भी तीन ' कुल संपत्तियों ' में शामिल किया गया है 'मणि चोर जातक' में उन्हें छ: काम बीस लोकों को प्राप्त होकर महानिर्वाण (मोक्ष) का अनुभव करते पाते हैं।"[42] "तीन कुल संपत्तियों के रूप में उल्लिखित तीनों वर्ण, समाज के सम्मानित एवं सुविधा प्राप्त वर्ग थे, भले ही उन में आंतरिक प्रतिद्वंदिता रही हो परंतु इस संदर्भ में रिज डेबिट भी तीनों वर्णों को समान श्रेणी में रखती हैं।"[43] " जातकों में सूत्र के प्रति भी सम्मान प्रकट करते हुए उन्हें इस लोक में धर्म आचरण करने के कारण देवता समान स्वीकार किया गया, "[44] क्योंकि' केवल अपना शील ही परलोक में सुख दे सकता है अन्य कोई नहीं ।'[45] इन पुष्टि तथ्यों के पश्चात् कैलाश चंद्र जैन का मत है कि- " बुद्ध कालीन भारत में इसी परंपरा में व्यवस्था चलती रही और यदि किसी विशेष वर्ण के व्यक्ति ने कोई दूसरा व्यवसाय कर भी लिया तो भी उसका वक़्त नहीं बदलता था ।"[46]

"उस दौरान यह विश्वास दृढ़ होता चला गया था कि स्वयं सृष्टि ने ही समाज का विभाजन किया है और पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुकूल ही प्राणी जन्म लेकर सुख- दुख भोगता है।"[47] "बुद्ध ने समाज के स्वरूप को बदलने का प्रयास किया। उन्होंने भेदभाव पूर्ण व्यवस्था को चुनौती देते हुए मानव मात्र को समान मानने का उपदेश दिया । उनका कहना था कि मानव जन्म से न ब्राह्मण होता है और ना चाण्डाल ही यह सब तो कृत्रिम भेद हैं।"[48] इस आधार पर बुद्ध जी ने समाज के स्वरूप के संपूर्ण आधार को ही अपने विचारों के द्वारा हिलाने का एक अप्रतिम प्रयास किया परंतु इसका समाज पर महात्मा बुद्ध के समतावादी उपदेशों का कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, तथा जिस प्रकार समाज का संगठन एवं स्वरूप पहले से चला आ रहा था उसी प्रकार से समाज के तत्कालीन स्वरूप को स्वीकार करना ही उनकी व्यवस्था बन गया।

"बुद्ध कालीन समाज में वर्णों का संबंध विशेष व्यवसाय से ना रहकर पूर्णत : जन्म हो गया था तथा कुल अथवा जन्म ही महत्वपूर्ण हो गया था । यही कारण है कि बौद्ध साहित्य में स्वयं बुद्ध को सात पीढ़ियों तक निष्कलंक कहा गया है।"[49] "बुद्ध जी को भी यह कहते हुए पाया गया है कि चारों में से दो वर्ण क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अभिवादन, प्रणामांजलि, अग्रासन तथा सेवा के अधिकारी हैं।"[50]

"खास तौर पर कहा जाए तो विशेष का स्ट्रक्चर वादी के विचार में एक समाज को आर्थिक सामाजिक राजनीतिक धार्मिक भाषाई औद्योगिक या सांस्कृतिक आदि को बुनियादी ढांचे के रूप में सचित्र किया जा सकता है जो कि अलग-अलग व्यक्तियों के विविध संग्रह से बना है इस संबंध में समाज का उद्देश्य व्यक्तियों और उनके परिचित सामाजिक परिवेश से परे अन्य लोगों के बजाय भौतिक दुनियाँ के साथ और अन्य लोगों के साथ-साथ लोगों के उद्देश्य से संबंधों का मतलब हो सकता है।"[51]

उपर्युक्त विवरण के अनुसार समाज के स्वरूप को हम पुष्टि तथ्यों के आधार पर बहुत ही अच्छी तरह से समझ चुके है। जिनका भिन्न-भिन्न रूपों में हमने अध्ययन किया है और ये समाज के स्वरूप की पुष्टि करते हुए प्रतीत भी होते हैं।

२.२:- समाज की आवश्यकता:- मनुष्य के लिए जिस प्रकार परिवार एक आवश्यक तत्व माना जाता है उसी प्रकार समाज भी उसका एक महत्वपूर्ण अंग है भगवान ने प्रकृति बनाई और समाज बनाया लेकिन इन दोनों को ही विभिन्न मूल्यों के साथ-साथ अपने-अपने महत्व के रूप में स्थापित किया। प्रकृति और समाज दोनों एक-दूसरे के खिलाफ लगातार हमेंशा संघर्ष करते हुए प्रतीत होते हैं जबकि समाज में रहने वाला हर व्यक्ति एक दूसरे पर अपनी आवश्यकता के अनुसार परस्पर निर्भर रहता है समाज को मानव व्यवहार और आवश्यकता के अनुसार ही बनाया गया है और प्रत्येक व्यक्ति को समाज की आवश्यकता प्रत्येक स्तर पर पड़ती रहती है जब कोई बच्चा अपने विकास काल में बड़ा होता है तो परिवार में जन्म लेता है परंतु वह जन्म लेने के पश्चात् जब वह परिवार में रहन-सहन तथा वातावरण को सीखने तथा समझने लग जाता है तो उसे एक बाहरी दुनियाँ का भी अनुभव प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है उसके पश्चात् वह परिवार से बाहर निकलकर समाज में जाता है तथा समाज में वह कई तरह के लोगों से मिलता है उन सभी लोगों के बीच रहता है उनसे व्यवहार करना सीखता है इन्हीं सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समाज की आवश्यकताओं के क्षेत्र निम्नलिखित है :- समाज आर्थिक रूप में आवश्यक, समाज राजनीतिक प्रभाव में आवश्यक, समाज वैवाहिक परंपरा में आवश्यक, प्रकृति के साथ समाज, समाज विदेशी प्रभाव में आवश्यक, समाज जातीय व्यवस्था में आवश्यक, समाज क्षेत्रीयता में आवश्यक, समाज रहन-सहन में आवश्यक, समाज खान पान में आवश्यक, समाज पारिवारिक

संस्था में आवश्यक, समाज सिनेमा पर प्रभाव में आवश्यक, समाज भारतीय महिलाओं की स्थिति में आवश्यक, समाज अमीर गरीब के बीच फैली खाई को पाटने में आवश्यक। इनके कुछ बिंदुओं का व्याख्यात्मक रूप इस प्रकार है।

समाज की आवश्यकता आर्थिक रूप में देखी जाए तो रोज़मर्रा की जिंदगी को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक रूप बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है समाज में रहने वाले लोग अपनी दिनचर्या तथा अपने परिवार का पालन पोषण करने के लिए समाज में रहकर रोजगार प्राप्त करते हैं तथा अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाते हैं। समाज में व्यक्ति जब जाता है तो अपनी आर्थिक क्षमता को मजबूत करने के लिए जाता है चाहे वह एक व्यवसाय के रूप में कार्य करे, व्यापार के रूप में कार्य करें या फिर रोजगार के रूप में कार्य करे इससे वह धन अर्जित करता है तथा धन अर्जित करने के पश्चात् वह अपनी रोज़मर्रा की जरूरतों को उस धन से पूर्ण करता है।

समाज की राजनीतिक प्रभाव में आवश्यकता को हम आज कल की राजनीतिक व्यवस्था के साथ जोड़कर यह कह सकते हैं की किसी भी राज्य में राजनीतिक व्यवस्था पर समाज का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है यद्यपि किसी समाज में रहने वाले लोग अगर अपनी राजनीतिक व्यवस्था को कमजोर करना चाहे या शक्तिशाली बनाना चाहे तो यह उस समाज में रहने वाले लोगों पर निर्भर करता है कि उन्हें अपने राज्य की सरकार कौन सी चाहिए तथा किस प्रकार के विकास का कार्य कर रही राजनीतिक व्यवस्था को लाना है यह सोच कर राजनीतिक क्षेत्र पर समाज में रहने वाले लोगों का प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ता है। **डाउसे तथा ह्यूज** समाज पर राजनीतिक प्रभाव को व्यक्त करते हुए यह बताते हैं कि "राजनीति समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की एक शाखा है जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से राजनीति और समाज में अन्तःक्रिया का विश्लेषण करना है।"[52] इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति तथा समाज एक दूसरे के साथ अंतःक्रिया करते हैं तथा समाज राजनीति पर अपना प्रभाव बनाए रखता है।

समाज को देखा जाए तो वह क्षेत्रीयता में भी आवश्यक माना गया है जैसा कि समाज में रहने वाले लोग क्षेत्रों के आधार पर अपने आपको उस क्षेत्र का मुख्य भाग मानते हैं तथा अन्य लोगों के साथ अनुचित रूप से व्यवहार करते हैं यहाँ पर सामाजिकता का होना आवश्यक हो जाता है एवं सामाजिकता हर क्षेत्र में होने के कारण सामाजिक अथवा क्षेत्रीय सद्भाव अपने-आप बना रहता है। इसके साथ-साथ वैवाहिक परंपरा में भी समाज अपनी भूमिका निभाता है प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंग बन जाता है तो समाज उसके लिए एक परिवार रूप में कार्य करता है जिस प्रकार से किसी एक परिवार में विवाह की कार्य विधियों को पूर्ण किया जाता है उसमें समाज भी अपना सहयोग तथा योगदान देता है चाहे वह दूध वाला हो हलवाई वाला हो टेंट वाला हो या किसी भी अन्य प्रकार की सुविधाएं जो कि हमें समाज के सहयोग से ही प्राप्त होती हैं तथा वैवाहिक जैसे कार्यक्रम समाज के लोगों द्वारा ही संपूर्ण हो पाते हैं।

समाज की आवश्यकता खान- पान तथा रहन-सहन में भी होती है यदि एक व्यक्ति समाज में रहता है तो वह अपने छोटे- मोटे कार्यों को समाज में या कहें कि अपने पड़ोस में रहने वाले सामाजिक लोगों के साथ छोटी मोटी चीजें जैसे खाने पीने के सामान से लेकर कुछ सीमित सुख सुविधाओं का एक सीमित समय के लिए प्रयोग करने की अनुमति अपने पड़ोसी से ले लेता है तथा अपने जीवन की दिनचर्या को निरंतर उसके सहयोग से चलाता रहता है इसी के साथ रहन-सहन की बात करें तो यदि हमें अगर कोई हारी-बीमारी की समस्या से जूझना पड़ता है तो हमारे आस-पास के लोग ही हमारी सहायता के लिए आते हैं जिनका उस समय में एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान बन जाता है जो कि हमारी पारिवारिक समस्या का एक हिस्सा बन जाते हैं तथा अपना सहयोग अपनी क्षमता के अनुसार प्रदान करते हैं जिससे हमारी परेशानियों का निवारण होता है और यह समाज के लोगों द्वारा ही संभव हो पाता है।

समाज की आवश्यकता अमीरी-गरीबी के बीच फैली खाई को भरने के लिए भी पड़ती है यह इस रूप में भी आवश्यक है कि समाज में रहने वाले लोग आपस में मतभेद रखते हैं परंतु कई ऐसे होते हैं जहाँ पर अमीरी-गरीबी नहीं व्यवहार को मान्यता दी जाती है यदि समाज में रहने वाले लोग एक अच्छी विचारधारा के व्यक्ति हैं तो अमीरी-गरीबी या ऊंच - नीच का भेदभाव कोई मायने नहीं रखता आजकल इसका प्रभाव हम शहरों में देख सकते हैं क्योंकि हमारे आसपास के लोग भी एक व्यवहारिक व्यक्ति होते हैं जो कि अपनी अमीरी-गरीबी से दूर अपनी विचारधारा को परे रखकर एक दूसरे की सहायता करते हैं तथा एक दूसरे के सुख-दुख तथा खुशी में भी एक दूसरे का सहयोग देते हैं इसकी पुष्टि करने के लिए हम अपने आसपास के लोगों तथा अपने अनुभव को ले सकते हैं जो कि अपने आप में बहुत ही पर्याप्त माना जा सकता है क्योंकि स्वयं किया गया अनुभव प्रत्येक चीज की पुष्टि कर देता है।

३:- व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व :-

व्यक्ति के समाज के प्रति कुछ इस प्रकार के दायित्व होते हैं जैसा कि एक परिवार में एक बच्चे का अपने परिवार के लिए दायित्व होता है यदि हम समाज को व्यक्ति का संपूर्ण शरीर कह दे तो हम सब उसके अंक अवयव माने जा सकते हैं तथा जिस प्रकार से देखा जाए तो शरीर का संपूर्ण अस्तित्व उसके प्रत्येक अंगों पर पूर्ण रूप से निर्भर करता है उसी तरह से हमारा जो संपूर्ण शरीर है उसकी सहायता से शरीर के सभी अंगो को भी स्वस्थ रखा जाता है हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्ति तथा समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा इन दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है।

व्यक्ति तथा समाज का आपस में बहुत ही घनिष्ठ और कहा जाए तो पारस्परिक संबंध होता है व्यक्ति समाज के निर्माण का आधार माना जाता है जो कि समाज की एक अविभाजित इकाई के रूप में कार्य करता है तथा हम व्यक्ति के बिना समाज की कोई कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि समाज में रहने वाला जो महत्वपूर्ण अंग है वह व्यक्ति ही है तथा समाज में जो भी कार्य या क्रियाएं की जाती है वह व्यक्तियों के द्वारा ही संपन्न होती हैं इसकी पुष्टि करते हुए **मैकाइवर तथा पेज** ने ठीक ही कहा है कि - " समाज का अस्तित्व केवल वही है जहाँ सामाजिक प्राणी परस्पर पहचान पर आधारित तरीके से एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं परिवार, जाति, धार्मिक-सांस्कृतिक समुदाय और सामाजिक संगठन व्यक्ति के ही विभिन्न रूप है, जो भावनात्मक स्तर पर आरम्भ होकर भौतिक व नैतिक स्तर तक विस्तार पाते हैं व्यक्ति के माध्यम से विभिन्न समूहों की विविध- क्रियाएं समूह की विशेषता को स्पष्ट करने के साथ-साथ समाज के चरित्र का निर्माण करती हैं।" [53]

समाज में व्यक्ति के हाथों से ही चाहे वह शक्ति हो या कोई भी चिंतन की प्रक्रिया यह दोनों ही व्यक्ति के द्वारा ही एक सफल विस्तार पाते आ रहे हैं। व्यक्ति के द्वारा ही समाज का संगठन और उसका विभाजन हमेंशा संपन्न हुआ है। व्यक्ति समस्त सांसारिकता का एक नायक भी कहलाता है वह अपने चिंतन के साथ-साथ अपनी अन्वेषण वृद्धि के द्वारा ही समाज को एक सफल तथा प्रगतिशील गति प्रदान नहीं करता अपितु वह उसे एक नई दिशा की ओर ले जाने में सहायक रहता है। यह एक ऐसी शक्ति माना गया है जो कि समाज में परिवर्तन लाने के लिए अपने चिंतन तथा तर्क शक्ति के द्वारा परिस्थितियों को उत्पन्न करता है।

" वास्तव में व्यक्ति ही संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध करने का प्रेरक घटक है। सामाजिक व्यवस्था, एक ऐसी परिस्थिति में जिसका भौतिक या पर्यावरण - संबंधी पहलू हो, अपनी इच्छाओं की आवश्यकताओं की आदर्श पूर्ति से प्रेरित एकाधिक व्यक्तिक कर्ताओं की एक दूसरे के प्रति अंतर क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है उनका निर्माता व्यक्ति ही है।"[54]

व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व उस प्रकार होता है जिस प्रकार एक संपूर्ण शरीर के लिए उसके अंगों का यदि हमारे शरीर का कोई भी अंग स्वार्थी हो जाए तो वह अपने आप में ही सीमित रह जाएगा और वह संपूर्ण शरीर के लिए एक खतरा बन जाएगा इस प्रकार यदि देखा जाए तो सबसे पहले भोजन का पहला निवाला हमारे शरीर के अंदर जाने से पूर्व उसे मुख द्वार से गुजरना होता है और यदि मुख ही भोजन को अपने तक ही सीमित रख कर उसे शेष शरीर के अंगों तक ना जाने दे तो किस प्रकार शरीर के अंदर भोजन जाएगा तथा किस प्रकार शरीर के अंदर रक्त का निर्माण होगा और यदि भोजन शरीर के अंगों तक नहीं पहुंचेगा तो शरीर पर मांस का भी निर्माण नहीं हो पायेगा और यदि शरीर के अंदर रक्त का निर्माण नहीं हो पाएगा तो शरीर जड़ होकर निर्जीव हो जाएगा तथा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाएगा और उसमें से जीवन समाप्त हो जाएगा और इसका कारण केवल वह मुखड़ा ही होगा जो कि अपने स्वार्थ सिद्धि के कारण भोजन शरीर के अंगों तक नहीं पहुंचने देगा ।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यदि समाज का कोई व्यक्ति इस प्रकार स्वार्थी हो जाता है तो वह अपने लिए तो विनाशकारी होता ही है तथा वह अपने स्वार्थ परायणता के साथ सामाजिक जीवन के लिए भी बहुत ही विनाशकारी विष के समान अधिक घातक सिद्ध हो सकता है जो व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से समाज का विकास ना सोच कर खुद का विकास स्वार्थपरक दृष्टि से सोचता है तथा अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए एवं विकास करने के लिए सोचता है ऐसे व्यक्ति संपूर्ण समाज को एक प्रकार का अभिशाप देने का कार्य कर रहे होते हैं ऐसे व्यक्ति कभी भी शांत या सुखी नहीं रह सकते जो कि केवल अपनी ही स्वार्थपरता के लिए कार्य करते हैं व्यक्ति समाज में अपना अस्तित्व तो बिगड़ता ही है परंतु अपने अस्तित्व के साथ-साथ अपने परिवार और समाज दोनों को बिगाड़ने की तैयारी करता रहता है।

जब व्यक्ति समाज में व्यवहार करता है तो समाज में उसका व्यक्तिगत रूप में कोई स्थान नहीं माना जाता व्यक्ति समाज में रहकर अपनी शक्ति, समृद्धि, संपन्नता तथा प्रतिष्ठा के क्षेत्र में उन्नति तो करता चला आ रहा है लेकिन उसमें यह बहुत बड़ी कमी रहती है कि वह सभी चीजों को प्राप्त करके अपने तक ही सीमित रखता है जिसका समाज को इसकी शक्ति पद तथा प्रतिष्ठा का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता और यदि समाज को किसी व्यक्ति की पद-प्रतिष्ठा या उन्नति से समाज का कोई लाभ नहीं होता तो यह सारी की सारी उपलब्धियां, स्मृतियां, असफलताएं व्यर्थ मानी जाती है। ऐसे व्यक्ति का समाज में कोई स्थान नहीं क्योंकि वह सिर्फ अपने लिए ही कार्य

करता है तथा वह अपने लिए जीता है समाज के लिए नहीं। जिसके कारण समाज में रहने वाला एक व्यवहारिक व्यक्ति उसको ना तो आदर देगा ना सम्मान देगा । ऐसे स्वार्थी व्यक्ति को केवल वही व्यक्ति आदर और सम्मान प्रदान करेंगे जिनकी दृष्टि बहुत ही क्षीण अर्थात् वे मतिमंद होंगे।

ऐसे ही कुछ समाज में रह रहे व्यक्ति अपने आप में एक संकीर्ण विचारधारा तथा स्वार्थ परायण विचारधारा के व्यक्तित्व को अपने अंदर संजोए हुए होते हैं वही समाज के शोषक शत्रु और अहित चिंतक कहलाते हैं। वह जिस समाज में रहते हैं उसी समाज का अपने पास उपलब्ध साधनों के बल पर एवं अपने सामर्थ्य के द्वारा उसी समाज का शोषण करते हैं जिसके कारण समाज में गरीबी, ईर्ष्या, द्वेष और कुत्सा रूपी विष समाज में फैलता चला जाता है। समाज में ऐसे व्यक्तित्व के व्यक्ति समाज को अस्वस्थ बनाते रहते हैं। जो अपने सभी दोषों से सारे समाज के स्वास्थ्य तथा सुखचैन पर बहुत ही गहरा घातक आघात अक्सर दिन प्रतिदिन करते रहते हैं तथा ऐसे व्यक्तियों की जितनी भी निंदा की जाए वह कम ही होगी क्योंकि इनका जो समाज के प्रति दायित्व होता है उसे यह पूर्ण नहीं करते बल्कि समाज को और हानि पहुंचाते रहते हैं।

किसी भी समाज का विकास करने वाले या फिर उसको और अविकसित करने अर्थात् उसका विकास ना चाहने वाले दोनों ही समाज में रह रहे व्यक्तियों पर निर्भर होता है। समाज में रह रहे व्यक्तियों द्वारा जब समाज में कई प्रकार के अपराधपरक दोष घटित होते हैं। ऐसी घटनाएं तभी घटित होती है जब व्यक्ति के अंदर व्यक्तिवादी विचारधारा की भावना पनपने लगती है तथा इसी के द्वारा ही यह सभी समाज में संघर्ष अशांति तथा असुविधा की परिस्थितियों को पैदा करते रहते हैं तथा इसी आधार पर स्वार्थ परायणता को हम पापों का जनक मान सकते हैं। ऐसे समाज का तब तक विकास नहीं हो सकता जब तक समाज में रह रहे लोगों में आपसी मेल भाव पारस्परिक सहयोग एक दूसरे के प्रति सहानुभूति एवं सौजन्य अन्य व्यक्ति के प्रति त्याग भाव और संगठन की भावना का अविर्भाव नही होगा ।

व्यक्ति तथा समाज परस्पर एक सिक्के के दो पहलू माने जाते हैं या यह कहें कि व्यक्ति तथा समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इन दोनों का विकास परस्पर एक समान रूप से दोनों पर ही निर्भर करता है तथा व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व इस प्रकार होता है कि वह अपनी विचारधारा को समाज के विकास में लगाए जिससे उसमें रह रहे लोगों का विकास हो सके तथा उन सभी लोगों के साथ-साथ उस व्यक्ति का भी विकास हो सके तथा ऐसे कार्यों को समाज में रहकर करना चाहिए जिसमें संपूर्ण समाज का हित हो और उसके साथ-साथ समाज में रह रहे अन्य लोगों को भी लाभ पहुंचे। मुख्य रूप से व्यक्ति के समाज के प्रति यही दायित्व होते हैं।

४:- समाज का व्यक्ति के प्रति दायित्व:-

जिस प्रकार सभी व्यक्तियों के समाज के प्रति दायित्व होते हैं उसी प्रकार समाज के भी समाज में रहने वाले लोगों के प्रति कई दायित्व होते हैं दोनों का एक दूसरे के प्रति दायित्वों का वहन करना आवश्यक होता है तथा यह एक दूसरे के प्रति अपने दायित्वों को निभाते भी है। जैसा कि हम इस अध्याय में पहले ही समाज की परिभाषा से यह जान गए हैं कि समाज एक से अधिक लोगों के समूह या समुदाय को कहा जाता है जिसमें सभी व्यक्ति एक साथ मिलकर अपने सभी क्रियाकलापों को करते हैं इन मानवीय क्रियाकलापों में आचरण सामाजिक सुरक्षा की क्रियाएं सारी की सारी सम्मिलित होती है यह समाज लोगों का एक ऐसा समूह होता है जो अपने अंदर के लोगों के मुकाबले अन्य समूहों से काफी कम मेलजोल या मेल मिलाप रखता है किसी भी एक समाज के अंतर्गत आने वाले व्यक्ति एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा स्नेह का भाव रखते हैं और दुनियाँ के प्रत्येक समाज में रहने वाले अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अपने अपने रीति-रिवाजों कि अपनी ही संस्कृति का पालन करते रहते हैं।

यह तो हम सभी जानते ही हैं कि समाज मानवीय अंत: क्रियाओं के प्रक्रम की एक प्रणाली है तथा यह मानवीय क्रियाओ जैसे चेतन तथा अचेतन दोनों परिस्थितियों से संबंधित होती है इसमें व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति होता है और उस व्यक्ति की कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवश्यकताएं भी होती हैं जैसे काम, क्षुधा, सुरक्षा आदि इनकी पूर्ति के अभाव में मनुष्य के भीतर कुंठाएं तथा मानसिक तनाव व्याप्त होता रहता है वह इन सब की पूर्ति करने में सक्षम नहीं होता अतः इन आवश्यकताओं की सम्यक संतुष्टि के लिए अपने दीर्घ विकासक्रम में मनुष्य ने एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित किया है। जिसकी पुष्टि हमारी दैनिक दिनचर्या से होती है इस पुष्टि तथ्य तथा पूर्व परिभाषाओं के आधार पर इस व्यवस्था को हम समाज के नाम से संबोधित कर सकते हैं जोकि व्यक्तियों का एक ऐसा संकलन है जिसमें यह निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे के साथ बंधे हुए होते हैं।

व्यक्तियों के प्रति समाज के दायित्व को देखा जाए तो समाज में व्यक्तियों की यह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्य के लिए अलग-अलग प्रकार के मानदंडों को विकसित करती रहती है। जिनके कुछ व्यवहार अनुमत तथा कुछ व्यवहार निषिद्ध समाज के लोगों को परिलक्षित होते हैं। समाज में विभिन्न कार्यकर्ताओं का समावेश होता है जिनमें अंत: क्रियाएं होती रहती हैं इन सभी अंत: क्रियाओं का भौगोलिक और पर्यावरणात्मक एक अपना ही आधार होता है। इन क्रियाओं में प्रत्येक कार्यकर्ता अधिकतम संतुष्टि की ओर उन्मुख होता है तथा सार्वभौमिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के अस्तित्व को अक्षुण बनाए रखने के लिए बहुत ही अनिवार्य तत्व माना जाता है एवं यह तादात्मयजनित आवश्यकताएं संरचनात्मक तत्वों के सदस्यत्व के क्षेत्र का प्रत्येक स्तर पर नियमन करती है तथा यह क्रिया के उन्मेष की प्रणाली तथा स्थिति जन्य तत्वों की ओर क्रिया उन्मुख होकर समाज की संरचना का निर्धारण करते हैं।

समाज के यह संयोजक तत्व अंतर क्रियाओं की प्रक्रिया को संतुलित करते हैं तथा यह वियोजक तत्व सामाजिक तत्व एवं सामाजिक संतुलन में व्यवधान उपस्थित करते हैं इन वियोजक तत्वों के नियंत्रण हेतु संस्था द्वारा कार्यकर्ताओं के संबंधो तथा क्रियाओं का समायोजन अक्सर होता रहता है जिससे पारस्परिक सहयोग में वृद्धि होती है और इसमें अंतर्विरोधों का आशंका भी होती है और सामाजिक प्रणाली में व्यक्ति को कार्य पद दंड पुरस्कार योग्यता तथा गुणों से संबंधित सामान्य नियमों और स्वीकृत मानदंडों के आधार पर उसकी योग्यता के अनुसार तथा उसकी क्षमता एवं प्रसिद्धि के अनुसार प्रदान किए जाते हैं। इन अवधारणाओं की विसंगति के अनुसार यह अपना व्यवस्थापन नहीं कर पाता और उसका सामाजिक व्यवहार विफल हो जाता है ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर उसके लक्षण की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि उसे समाज के अन्य सभी सदस्यों का सहयोग प्राप्त नहीं होता और वह सामाजिक दंड के इसी भय से सामान्यतः समाज में प्रचलित परंपराओं की उपेक्षा नहीं कर पाता जिसके लिए वह उनसे समायोजन का हर संभव प्रयास करता है और अपनी क्षमता के अनुसार समाज में रहकर एक दूसरे के साथ समान व्यवहार करता रहता है और उसे समाज में रहकर सभी के साथ मेल भाव रखना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव के अनुसार समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है इसलिए इसका कोई मूर्त स्वरूप नहीं प्रतीत होता इसलिए इसकी अवधारणा अनुभूति मूलक है परंतु इसके सदस्यों में एक दूसरे की सत्ता और प्रतीति प्राप्त होती है ज्ञान और प्रकृति के अभाव में सामाजिक संबंधों का विकास संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान के बिना किसी भी व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता और ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब वह समाज में रहकर नए-नए आविष्कारों को करता है इसमें पारस्परिक सहयोग एवं संबंधों का आधार समान स्वार्थ होता है समान स्वार्थ की सिद्धि समान आचरण द्वारा ही संभव होती है। इस प्रकार का सामूहिक आचरण केवल समाज के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है और उसका निर्देशन भी समाज के द्वारा ही होता है। इसके लिए वर्तमान सामाजिक मान्यताओं की समान लक्ष्यों से संस्कृति के संबंध में सहमति अनिवार्य होती है तथा यह सहमति पारस्परिक विमर्श एवं सामाजिक प्रतीकों के आत्मीकरण पर भी आधारित होती है। इसके अलावा प्रत्येक सदस्य को यह विश्वास रहता है कि वह जिस सामाजिक विधाओं को उचित मान्यता देता और उनका पालन करता है उन्हीं का पालन दूसरे भी करते हैं क्योंकि वह भी समाज का ही एक हिस्सा है।

इस प्रकार की सहमति, विश्वास तथा तदानुरूप आचरण सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखते हैं एवं व्यक्तियों के द्वारा सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित विभिन्न संस्थाओं द्वारा कार्य किए जाते हैं जिससे एक संवेद इकाई के रूप में समाज का संगठन और ज्यादा प्रभावित रहता है इसमें असहमति उस स्थिति में पैदा होती है जब व्यक्ति सामूहिकता के साथ आत्मीकरण में असफल होता रहता है जिसके कारण वह पूर्ण रूप से व्यक्ति के समूह या संगठन के साथ नहीं जुड़ पाता है। इनको आत्मीकरण और नियमों को स्वीकार करने में विफलता कुलपति के अधिकारों एवं समिति सदस्यों के प्रभुत्व के प्रति मूलभूत अभिवृत्तियों से संबद्ध किया जा सकता है जो कि अक्सर इस की विफलता का कारण बनता है।

५:- <u>सद्भावना के विविध रूप :-</u>

सद्भावना के विविध रूपों को जानने से पूर्व सद्भावना पर हमें एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात हो रहा है सद्भाव यानी अच्छा भाव मतलब अंतर्मन के भाव अर्थात् किसी के साथ भी किया गया अच्छा व्यवहार जो कि समाज में किसी भी क्षेत्र में हो सकता है चाहे वह परिवार से संबंधित हो या समाज से या फिर देश से या फिर संपूर्ण विश्व से। सद्भाव को हर जगह देखा जा सकता है कहे तो हमारे पूरे दिन की दिनचर्या में सद्भाव की एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है जो कि हमारे व्यक्तित्व को व्यक्त करती है तथा समाज में हम जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं उसी प्रकार का व्यवहार हमारे साथ भी किया जाता है एवम् सद्भावना का अर्थ यह लिया जा सकता है कि एक दूसरे के प्रति अच्छी भावना रखना सद्भावना कहलाती है अर्थात् किसी के प्रति बुरा भाव मन में ना लाना हर एक के प्रति अच्छा भाव रखना सद्भाव कहलाता है।

<u>भाव का अर्थ</u>:- इस भौतिक संसार में समस्त प्राणी चिंतनो के माध्यम से सुख दुख अनुभूति करते हैं उसे भाव कहते हैं। भाव की परिभाषा कॉलिंस शब्दकोश के अनुसार स्पष्ट हो जाती है।

<u>भाव की परिभाषा</u>:- **" Emotion is the part of a person's character that consists of their feelings as opposed to their thoughts."**[55]

इसका अर्थ यह है की भावना किसी व्यक्ति के चरित्र का हिस्सा है जिसमें उनके विचारों के विपरीत उनकी भावनाएं होती हैं। इससे उस व्यक्ति के चरित्र तथा उसकी भावना का अनुमान लगाया जा सकता है।

<u>भाव के प्रकार:-</u> भाव चार प्रकार के होते हैं जो हिंदी व्याकरण में अपना विशेष स्थान रखते हैं। प्रथम स्थायी भाव, दूसरा संचारी भाव तीसरा विभाव तथा चौथा अनुभव आदि इन भावों का मूल रूप यह है कि जिंदगी स्रोतों में हम अपनी भावनाएं प्रकट कर सकते हैं **स्थायी भाव** वह भाव कहलाते हैं जो परिस्थिति के अनुसार स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं यह भाव, प्रधान भाव भी कहलाते हैं यह ऐसे भाव होते हैं जो हमारे जन्म से मृत्यु तक हमारे साथ रहते हैं।

विभाव वे भाव कहलाते हैं जो स्थायी भाव के उद्बोधक कारण से उत्पन्न होते हैं यह मुख्यता दो प्रकार के माने गए हैं **आलंबन, उद्दीपन** विभाव। इसके पश्चात् अनुभव विभाव होते हैं जो मनोगत भाव को व्यक्त करने वाले होते हैं अर्थात् मन में आने वाले स्थायी भाव को हम शरीर की भाव भंगिमाओं द्वारा जिस प्रकार प्रकट करते हैं वह अनुभाव कहलाते हैं।

संचारी भाव या व्यभिचारी भाव यह वह भाव होते हैं जो मन में संचरण करते हैं अर्थात् मन में आने जाने वाले भावों को संचारी भाव कहते हैं यह भाव कुछ समय के लिए उत्पन्न होते हैं तथा फिर समाप्त हो जाते हैं।

<u>सद्भाव क्या है:-</u> सद्भाव वह भाव है जो समाज में व्यक्ति के अंदर उत्पन्न होता है वह चाहे अपने परिवार के प्रति उसका प्यार दुलार हो या उसका बड़ों के प्रति आदर या सम्मान हो। परिवार से अन्य समाज में भी जब व्यक्ति समाज में रहने वाले व्यक्तियों से अपने भाई-बहनों जैसा व्यवहार करता है अर्थात् एक दूसरे की सहायता करता है या जब किसी के ऊपर कोई मुसीबत आन पड़ती है तो समाज का प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति उसकी मदद के लिए आ खड़ा होता है यही भाव सद्भाव कहलाता है।

जब व्यक्ति किसी धर्म के प्रति अपनी निष्ठा रखता है तथा उस धर्म का प्रचार-प्रसार बिना किसी स्वार्थ भाव से करता है या उस धर्म के उद्देश्य पर चलकर लोगों में धार्मिकता पैदा करता है वह भी एक प्रकार का सद्भाव ही कहलाता है जो कि उस धर्म के प्रति व्यक्ति के अंदर उत्पन्न हुए भावों को दर्शाता है और वह भाव उस धर्म के प्रति सद्भावना में परिवर्तित हो जाते हैं और वह उस धर्म के लिए ही अपना पूर्ण जीवन समर्पित कर देता है।

जिस प्रकार हमारे देश के सैनिक सरहदों पर अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति तक देने में एक प्रतिशत भी संकोच नहीं करते वह उनकी देश के प्रति सद्भावना ही होती है जो उनको अपने देश के लिए कर्तव्य निष्ठ बनाती है और उस देश को सुरक्षित रखने को प्रेरित भी करती है।

भाषा के आधार पर कहे तो प्रत्येक व्यक्ति जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवास करता है तो उसकी भाषा या बोली में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ ही जाता है क्योंकि वह जिस स्थान पर प्रवास करता है तो वहाँ की जो आम बोलचाल की भाषा होती है उस बोलचाल की भाषा को उस प्रवासी व्यक्ति को अपनाना ही पड़ता है क्योंकि वह उसके जीवन का हिस्सा बन जाती है जिसके कारण उसे उस स्थान पर रहने में कोई समस्या ना हो या फिर वहाँ के निवासियों से व्यवहार करने में उसे कोई परेशानी का सामना ना करना पड़े। भाषा में परिवर्तन आने के लिए एक पंक्ति बहुत ही प्रसिद्ध मानी गई है जोकि यह है:-

' कोस- कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी ।'

कोस-कोस पर जिस प्रकार से पानी का स्वाद बदल जाता है उसी प्रकार व्यक्ति की भाषा में भी या कहें की बोली में भी परिवर्तन आ जाता है। परंतु अपनी भाषा तथा बोली को जो व्यक्ति हमेंशा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर उसका प्रयोग करता है यह जानते हुए भी कि किसी अन्य भाषा का वहाँ वर्चस्व पहले से ही स्थापित है तो भाषा के प्रति ऐसी भावना भाषाई सद्भावना कहलाती है।

<u>भावना का स्तर:-</u> जहाँ पर हमारी बौद्धिकता हमारे ऊपर हावी होने लगती है वहाँ पर भाव या भावों का क्षरण होना शुरू हो जाता है अर्थात् इस पहिए और पंखे की बे सिर पैर की सभ्यता में यह पता लगाना मुश्किल हो गया है कि मानव मशीन को चला रहा है या मशीन मानव को। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भाव समाप्त होता जा रहा है तथा समाज एक मशीन बनता चला जा रहा है जिसमें एक दूसरे के दुख दर्द को देखकर कोई भाव उत्पन्न नहीं होता ठीक उसी तरह जिस प्रकार मशीनों को केवल अपने काम से ही मतलब होता है अन्य किसी भाव का उन पर कोई असर नहीं होता।

आज का प्रत्येक व्यक्ति ऐसी ही भावना को अपने मन में लिए अपने जीवन को व्यतीत कर रहा है उसको अपने परिवार के सदस्यों के अलावा समाज में रह रहे लोगों के प्रति कोई भाव नहीं होता क्योंकि इस भागदौड़ भरी जिंदगी में किसी को भी समाज में रहने वाले लोगों के दुख-दर्द से कोई मतलब नहीं रह गया है क्योंकि वह व्यक्ति सुबह अपने रोज़मर्रा की जीवन शैली में लगा रहता है और वह देर रात में घर लौटता है तो वह किस प्रकार समाज में लोगों के साथ व्यवहारिकता बनाएगा क्योंकि उसको समय ही नहीं मिल पाता कि वह समाज में जाकर व्यक्तियों के साथ व्यवहार कर सके इसी वजह से आजकल के सभी त्यौहार भी फीके से लगने लग गए हैं जिनमें कोई भाव नजर नहीं आता और धीरे-धीरे उन त्योहारों का उत्साह भी लोगों के अंदर समाप्त होता चला जा रहा है।

<u>सद्भावना का विस्तार क्षेत्र:-</u> जब हमारी स्वार्थपरकता हमारे सद्भाव के स्तर से 2 इंच ऊपर उठना प्रारंभ करती है और मस्तिष्क तक पहुंचती है अथवा श्रेष्ठ भौतिकता की जमीन पर पहुंचती है जहाँ पर वस्तुएं व्यक्तियों से ज्यादा महत्वपूर्ण नजर आने लगती है वहाँ पर भावनाएं समाप्त हो जाती हैं और जब हम शुष्क बौद्धिकता की जमीन पर किसी सफलता की आकांक्षा करने लगते हैं तो वहाँ पर भाव अपने आप ही शून्य हो जाता है।

सद्भावना के पूर्णत: समाप्त होने का एक सबसे प्रमुख उदाहरण अमेरिका द्वारा ६ अगस्त १९४५ गिराए गए परमाणु बम से जापान के हिरोशिमा तथा नागासाकी द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है इस घटना में कई हजारों लाखों लोगों की जानें गई तथा सभी बेघर हो गए और जो उस दौरान बच भी गए थे परंतु कुछ वर्षों के पश्चात् उस परमाणु बम के प्रभाव से कैंसर जैसी भयंकर बीमारी से ग्रसित होकर कई लोग काल के ग्रास बन गए। यह बम इतना प्रभावशाली था कि उसके पश्चात् आज तक परमाणु बम का प्रयोग नहीं किया गया।

इस घटना में कई लाखों लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा इसके लिए अमेरिका का सिर्फ यही उद्देश्य था कि जापान अमेरिका के सामने आत्मसमर्पण कर दें और अमेरिका से हार मान ले इस परिस्थिति को देखते हुए तो यही कहा जा सकता है कि मनुष्य के अंदर सद्भावना पूर्ण रूप से समाप्त होती चली जा रही है अमेरिका ने बिना यह सोचे जापान पर परमाणु बम का प्रहार कर दिया कि उसमें कितने लोग रह रहे हैं और उनके प्रति कोई दयालु भाव नहीं रखा अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए अमेरिका ने अपनी संपूर्ण सद्भावना को समाप्त कर इस घटना को अंजाम दिया।

५:- सद्भावना के विविध रूप:- १. पारिवारिक सद्भावना।

२. सामाजिक सद्भावना।

३. धार्मिक सद्भावना।

४. साम्प्रदायिक सद्भावना।

५. सांस्कृतिक सद्भावना

६. भाषाई सद्भावना।

७. राष्ट्र के प्रति सद्भावना।

<u>५.१:- पारिवारिक सद्भावना:</u>- परिवार एक ऐसी संस्था है जो मानव उत्थान के लिए एक शानदार खोज मानी जाती है और प्राचीन लोगों द्वारा मानव जाति के लिए दिया जाने वाला पुरस्कार माना जाता है। इस संस्था में सभी लोगों का एक साथ परिवार में रहना अपने आप में महत्व रखता है जिसके लिए तमिल भाषा में एक कहावत भी बहुत ही प्रचलित मानी गई है-"एक अच्छा परिवार संयुक्त राष्ट्र की तरह है।"जिसका अपने आप में विशिष्ट अर्थ है।

परिवार एक ऐसे विश्वविद्यालय के समान होता है जिसमें मैत्री संबंध, आत्मविश्वास का निर्माण, सहभागिता, आतिथ्य, प्रेम - संबंध, देखभाल,साख एवम् भावात्मक समायोजन आदि जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती है। जिससे उसके व्यवहारिक भावों में परिवर्तन आता है तथा वह इन सभी का अनुकरण करता है। इस विश्वविद्यालय में माता-पिता, बुजुर्ग, परिवार एवं समाज आदि के शिक्षक माने जाते हैं।

पश्चिमी अवधारणा के अनुसार परिवार एक संस्था है वहीं हमारी भारतीय अवधारणा यह है कि परिवार एक ऐसा तरीका है जिसके माध्यम से हर व्यक्ति अपना धर्म निभाता है अर्थात् धर्म सर्वोपरि है और यह वह रास्ता है जिस में मानवजाति अपना कर्तव्य निभा सकती है और अपना उद्धार प्राप्त कर सकती है एवं इस आधुनिक समाज के परिवार में कई समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं और इन सब समस्याओं का निवारण उस परिवार के शिक्षक करते रहते हैं।

परिवार ऊपर से एक स्थूल संरचना दिखाई पड़ती है जिसमें कुछ व्यक्ति देशकाल एवं आवश्यकताओं तथा अपनी क्षमताओं को बनाए हुए एक घर में निवास करते हैं। यदि हमें किसी परिवार की परिभाषा निर्धारित करनी हो तो यह उतना स्थूल उपक्रम नहीं है जितना कि प्रतीत होता है इस को परिभाषित करने के लिए कई रूपों को देखना पड़ता है जिसके कारण इसकी सटीक परिभाषा हमें मिल सकती है।

परिवार बह्म तौर पर यदि स्थूल संगठन है तो उस सद्भाव के स्तर पर इस संगठन के पीछे रक्त संबंध, भावनात्मक संबंध, अपने-पराए का बोध इत्यादि ना जाने कितनी मानवीय संवेदनाएं और वृत्तियां सक्रिय दिखाई पड़ती हैं और एक ही परिवार में रहते हुए उसके सभी सदस्य एक दूसरे को एक समान नहीं चाहते हैं एवं इसी प्रकार कहीं ना कहीं व्यक्ति परिवार के विघटन का एक कारण बन जाती है एवं स्थिति चाहे जो भी हो उसे हम परिवार ही कहते हैं इसी आधार पर परिवार की कुछ परिभाषाएँ निम्न रूप से है:-

परिभाषा :-१ International Encyclopaedia of the Social Sciences के अनुसार - "परिवार और कुटुंब परस्पर भिन्न है-कुटुंब का तात्पर्य है कि- ऐसा व्यक्तियों का समूह जिसमें रक्त संबंध आवश्यक ना भी हो वह कुटुंब कहलाता है और परिवार का तात्पर्य यह है कि वह कौटुंबिक समूह जो अभ्यासगत रूप से सहनिवास तथा सहभोज करता है वह परिवार कहलाता है।"[56]

परिभाषा:-२:- स्मिथ के अनुसार- " परिवार साधारण तथा एक विवाह युग्म होता है जिसमें एक पुरुष उसकी पत्नी और छोटे बच्चे सम्मिलित होते हैं-या एक समुचित समूह जिसमें एक पुरुष उसकी पत्नी/पत्नियाँ उसके पुत्र, पौत्रों की पत्नियाँ और पौत्र तथा अविवाहित पुत्रियां सम्मिलित होती हैं।"[57]

परिभाषा:-३:- 'बील्स तथा हाईजर' के शब्दों में- " परिवार को एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके सदस्य रक्त संबंधों द्वारा बंधे होते हैं।"[58]

परिभाषा:-४:- ' आम्बर्न और निम्काफ' के अनुसार- " बच्चे या बिना बच्चों वाले पति- पत्नी के या किसी एक पुरुष या किसी एक स्त्री के अकेले ही अपने बच्चों सहित एक थोड़े बहुत स्थायी संघ को परिवार कहते हैं।"[59]

परिभाषा:- ५:- ' डेविस किंग्सले ' के अनुसार- " परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो रक्त के आधार पर एक दूसरे से संबंधित हैं तथा जो परस्पर नातेदार हैं।"[60]

परिभाषा:-६:- ' इलियट तथा मेरिल ' अपने परिवार की परिभाषा इस प्रकार दी है- " परिवार पति-पत्नी और बच्चों से निर्मित एक जैविक सामाजिक इकाई है।"[61]

परिभाषा:-७:- लसी मेयर के अनुसार - " परिवार एक ग्रस्त समूह है जिसमें माता पिता और संतान थे साथ-साथ रहते हैं इसके मूल रूप में दंपति और उसकी संतान रहती है।"[62]

उपर्युक्त परीभाषाओं के साथ - साथ परिवारिक सद्भावना भी अपने आपमें ही स्पष्ट होती चली आ रही है इस रूप में स्पष्ट हो रहा है कि बच्चों के पालन-पोषण से लेकर उनके व्यक्तित्व के विकास होने तक का संपूर्ण कार्य परिवार द्वारा ही संपूर्ण अथवा संपन्न किया जाता है।

परिवार में रहकर ही व्यक्ति सामाजिक व्यवहार एवं नैतिक आचरण की शिक्षा को अपने व्यक्तित्व में उतारता है। इसी वजह से परिवार को व्यक्ति की प्रथम पाठशाला माना जाता है। वास्तव में यह कहा जा सकता है की परिवार ही व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए उसके व्यक्तित्व, सोच-विचार, आचार व्यवहार आदि सभी का निर्माण करता है। संचार के विभिन्न भागों में परिवार के स्वरूपों में विविधता दिखाई देती है एवं इस विविधता का मूल कारण स्थान विशेष की भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ ही है।

भारत में परिवार के अनेक रूप देखे गए हैं जैसे कि पितृ सत्तात्मक रूप मातृ सत्तात्मक रूप केंद्रीय और संयुक्त परिवार आदि लेकिन इस औद्योगीकरण के युग में परिवार के स्वरूप में काफी तरह के बदलाव देखे जा सकते हैं समाज में परिवार का जो पहले था उसमें धीरे-धीरे अब पूरी तरह परिवर्तन आ चुका है सदियों से चलती आ रही यह मान्यताएं अब बिल्कुल लुप्त होती हुई नजर आ रही हैं जहाँ परिवार मैं दादा - दादी, माता- पिता, चाचा- चाची, ताऊ- ताई आदि का परिवारिक सद्भाव नजर आता था परंतु आज उसके स्थान पर अब सिर्फ पति-पत्नी एवम् उनके बच्चे रह गए हैं।

जहाँ पर परिवार संगठित रूप में था वह आज परिवार एकल रूप में परिवर्तित अर्थात् सीमित हो गया है और इस तरह बदलते परिवारिक परिदृश्य से समाज का रूप बदलता चला जा रहा है जिसमें परिवारिक सद्भाव की कमी आती जा रही है जिसके कारण से बच्चों में सद्भावना का भाव समाप्त होता चला जा रहा है।

" आधुनिकता की इस अंधी दौड़ में पुराने परिवारिक संबंधों का टूट जाना और परिवारिक चेतना का ह्रास तथा संयुक्त परिवारों का एकल परिवारों में बट जाने की प्रक्रिया ने विघटन ला दिया है जैसे विवाह संबंध में तलाक, अलगाव, परिवारिक मूल्यों का विघटन ही परिवार के विघटन का मूल कारण है।"[63]

इन पंक्तियों के आधार पर परिवारिक सद्भाव और उसके विघटन को देखा जा सकता है। इस विघटन का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर भी पड़ता है एवं जो भावना और भावनात्मक तत्व दया, प्रेम, सहानुभूति, लगवा आदि सद्भाव परिवार के विकास द्वारा ही प्राप्त होते हैं और इन्हीं सबका मिलाजुला रूप परिवारिक सद्भाव कहलाता है यह सद्भाव वहीं ज्यादा मिलता है जहाँ पर संयुक्त परिवार होता है। एकल परिवार में यह सद्भाव इसलिए कम हो जाता है क्योंकि इसमें परिवार के सदस्यों की संख्या कम हो जाती है एवम् इसके साथ-साथ प्रेम तथा सद्भाव भी कम हो जाता है।

मंजूर एहतेशाम जी की रचनाओं में भी यह परिवारिक सद्भाव देखने को मिल जाता है इनकी कथाओं से संबंधित रचनाएं हो या उपन्यास से संबंधित इनमे कई स्थानॉन पर यह सद्भाव प्रतीत होता रहता है इनकी कहानियों में अधिकतर एकल परिवार की सद्भावना को व्यक्त किया गया है इनके तीनों कहानी संग्रह मे से किसी ना किसी कहानी में परिवारिक सद्भाव दिखाई दे ही जाता है।

मंजूर एहतेशाम जी के कहानी संग्रह 'तसबीह' के पहले खंड में तो इन्होंने परिवारिक सद्भावना से परिपूर्ण रचनाओं का समावेश किया है इसमें से चाहे हम किसी भी रचना का वर्णन करें उसमें परिवारिक सद्भाव हमें अवश्य प्राप्त हो ही जाता है जिसमें पारिवारिक सद्भावना अपने आप ही पाठक के सामने प्रस्तुत होने लगती है।

एहतेशाम जी की परिवारिक सद्भावना पर रचनाएं इस प्रकार हैं रमजान में मौत, खेल, छोटी छोटी चीजें, बशीर खान- मालिक मॉडर्न केनिन आर्ट, अंधेरे-में, घेरा, उदास चांदनी, लड़ाई, धरती पर, कौम, तलाफी, तमाशा, तासबिह आदि कहानियों मैं परिवारिक सद्भाव हमें बहुत ही मार्मिक रूप में प्राप्त हो जाता है।

मंजूर एहतेशाम जी के अलावा और कई रचनाकार हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में परिवारिक सद्भावना को समाहित किया है और हिंदी साहित्य जगत में अपने नाम को परिवारिक सद्भावना के रूप में एक असीम प्रतिष्ठा प्रदान की है जिनके नाम तथा रचनाएं इस प्रकार है- आशापूर्ण देवी की ' श्रेष्ठ कहानियां', मन्नू भंडारी की ' श्रेष्ठ कहानियां', चंद्रधर शर्मा गुलेरी की ' उसने कहा था',सुदर्शन जी की कहानी ' हार की जीत ',प्रेमचंद जी की ' कफन ', सआदत हसन मंटो की ' टोबा टेक सिंह' ,फणीश्वर नाथ रेणु कि ' मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कलम ',मुक्तिबोध की- ' पक्षी और दीमक, भीष्म साहनी की ' चीफ की दावत ' एवं ज्ञानरंजन की ' घंटा ' आदि । उल्लिखित कहानियों में परिवारिक सद्भावना की पुष्टि आगे आने वाले अध्याय में की जाएगी जिससे पारिवारिक सद्भावना की पुष्टि स्पष्ट रूप से कि जाएगी।

<u>५.२- सामाजिक सद्भावना:-</u> 'समाज' एक व्यापक शब्द है। परिवार से लेकर विश्वव्यापी मानव समूह तक मानव समाज को विविध रूप में ग्रहण किया जाता है। इसके अंतर्गत वर्ग, जाति, सम्प्रदाय तथा धर्मों में विभाजित अनेक छोटे बड़े समुदायों का समावेश होता है इसमें जो मनुष्य निवास करता है उसे सामाजिक प्राणी कहा जाता है जो कि सामाजिक संबंधों से जुड़ा रहता है समाज तथा परिवार के संबंधों को जोड़ने का कार्य साहित्य करता है जिससे इन दोनों में एक संबंध स्थापित होता है।

साहित्य केवल कल्पना की उपज नहीं है उसमें सामाजिक तत्वों का समावेश पाया जाता है जो कि सामाजिक सद्भाव से परिपूर्ण होता है। यह मनुष्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता को बढ़ाता है तथा ये मनुष्य की चेतना में उतरकर उसकी वृत्तियों का संस्करण भी करता रहता है एवं उन्हें एक उद्दात सामाजिकता प्रदान करता है। इसी वजह से साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है जिसमें साहित्यकार की छवि परिलक्षित होती है। अथवा इसका एक साहित्यकार पर अपने युग की सामाजिक मान्यताओं, सामाजिक सद्भाव, जीवन के रीति- रिवाज, विश्वास और सभी प्रकार की प्रमुख घटनाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

कथा - साहित्य में रचनाकार को अपने अंतर्गत की भावनाओं को प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर मिलता है इस आधार पर मंजूर एहतेशाम जी ने अपने कथा- साहित्य में कम लिख कर भी यथार्थ के बाद की परंपरा में अपनी विशिष्टता का प्रमाण दिया है यह ऐसे रचनाकार हैं जो हमें समाज से ग्रहण किए सत्य को शिवम् और सुंदरम् के रूप में ढालकर वापस लौटाते आए हैं।

सामान्य रूप से 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है परंतु समाजशास्त्रीयों का यह मत है कि समाज, व्यक्तियों का समूह मात्र ही नहीं है उनके अनुसार समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है जैसा कि संस्कृत में कहा गया है - " सम्यक अजन्ति गच्छन्ति जना: अस्मिन इति समाज।"[64] अर्थात् जिसमें सभी लोग सद्भाव सहित रहें, वहीं समाज है।

' हिंदी शब्द सागर' में समाज का अर्थ निम्न रूप से व्यक्त किया गया है- " १. संघ, गिरोह, दल २. एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले लोग जो मिल कर अपना समूह बनाते हैं। ३. वह संस्था जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित की हो। ४. प्राचुर्य, समुच्य, संग्रह। ५. एक प्रकार का सहयोग मिलना, एकत्र होना।"[65]

मनुष्य समाज से जुड़ा हुआ है, " वह एक सामाजिक प्राणी है। इस बात को अरस्तु के नाम पर बार-बार दोहराया भी जाता है मनुष्य सामाजिक संगठनों, संस्थाओं, समितियों, वर्गों, जातियों को बताता है और उन्हीं के माध्यम से अपनी सामाजिकता की अभिव्यक्ति भी करता है।"[66]

"सामान्य रूप से समाज का अभिप्राय सामुदायिक जीवन की ऐसी अनवरत एवं नियामक व्यवस्था से है, जिसका निर्माण व्यक्ति पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के निमित्त जाने-अनजाने कर लेता है।"[67]

व्यक्ति-व्यक्ति के संगठन से परिवार बनता है समाज में अनेक धर्म, पंथ, सम्प्रदाय, जाति, आदि विविध स्वभाव के स्त्री -पुरुष का अंतर्भाव रहता है जो कि समझ में सद्भावना उत्पन्न करते हैं और एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते हैं सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री सत्यकेतु विद्यालंकर ने समाज की परिभाषा देते हुए लिखा है कि - " मनुष्य के जीवन में एक-दूसरे के साथ संबंधों का जाल बिछा हुआ है, समाजशास्त्र में उसी को समाज कहा जाता है।"[68]

सर्वविदित है कि सृष्टि प्रारंभिक काल से ही जीवन एवं जगत का स्वरूप बदलती आई है। हजारों वर्ष पहले पृथ्वी पर वायरस बैक्टीरिया का प्रादुर्भाव था। समय में निरंतर परिवर्तन के कारण दूसरे जीवों ने भी जन्म लिया और कई सारे जीव- जंतुओं का भी इस पृथ्वी पर आवागमन हुआ। समय में निरंतर परिवर्तन के कारण जल स्थल प्राणी स्तनधारी वानर वनमानुष और फिर प्राणी जैविक जगत का यही क्रम उस अवस्था में पहुंच गया जहाँ जीवों की जातियां बनी थी जातियों का यही विकास क्रम उस बिंदु तक पहुंच गया जहाँ जाकर मनुष्य आदि उसके पश्चात् मानव अपना जीवन जीने के लिए अपनी ही जाति के जीवो की आवश्यकता को महसूस करने लगा तथा प्रत्येक जाति के निर्धारित जीवो ने उसे झुंड में रहना सिखा दिया तथा झुंड में रहने से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ण होती चली गई और प्राचीन काल से ही समय के परिवर्तित होने के साथ-साथ अपने आप को एक समाज के रूप में स्थापित करते चले गए इन्हीं समूह को प्राचीन

काल में समाज के नाम से संबोधित किया जाने लगा।

अपने प्रारंभिक काल से ही झुंडो अर्थात् समूहों में रहने के कारण मनुष्य एक सामाजिक प्राणी कहलाता है। एवम् समाज का आगमन भी मनुष्य के आगमन के साथ-साथ हुआ है क्योंकि एक-एक व्यक्ति जुड़कर ही समाज का निर्माण करते है। ये समाज कि लघुतम इकाई होते हैं इनके बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं और इनके बिना समाज कि कल्पना करना भी संभव नही।

मनुष्य अपने जीवन को एक अच्छा स्तर प्रदान करने के लिए या सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए समाज में रह रहे अन्य लोगों के साथ संबंध स्थापित करता है तथा उनके साथ सहयोग का आदान- प्रदान करता है। जिससे मनुष्य अपने जीवन शैली को एक अच्छा रूप प्रदान करते हैं और आगे बढाने की शक्ति को भी समाज में रहकर अर्जित करते हैं

आज के समाज का यह सभ्य स्वरूप उत्पत्ति के बाद विकास की एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम है। लोक प्रचलित है कि प्रारंभिक काल के व्यक्ति के अनियंत्रित जीवन और प्रतिदिन के संघर्षों की समाप्ति के लिए ही उसने एक दूसरे के निकट आकर अपना संबंध स्थापित करना प्रारंभ किया था इसी बढ़ती हुई निकटता और संबंध स्थापना के कारण ही एक व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों के साथ अंत:क्रिया बढ़ती चली गई तथा जब उनके बीच बनने वाले संबंध काफी व्यवस्थित हो गए तो इसी अवस्था से धीरे-धीरे वर्तमान समाज की उत्पत्ति होनी शुरू हो गई। निरंतर परिवर्तनशील होने के कारण ही समाज अपने विकसित रूप में व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूह का एक सूत्र और संगठन अपने आप में स्थापित हो गया। ऐसे संगठनों की दृढ़ता के लिए व्यक्ति एवं परिवार जैसी लघुतम इकाईयों का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान आज भी है जोकि समाज के निर्माण में अपना एक अलग ही महत्व रखते हैं।

उपर्युक्त प्रतिपुष्टि के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समाज मानवीय संबंधों की सबसे बड़ी और सर्वाधिक व्यापक इकाई है जिसकी सदस्यता जन्म से ही अर्जित की जाती है एवम् सभी लोगों का संगठन के लिए एक जैसे प्रतिमानो, मानवीय मूल्यों एवं संबंध से मानव समूह समाज कहलाता है और इसी समाज में सब मिलजुलकर अपने सभी दुखों और सुखों को एक दूसरे के साथ बांटते हैं जिसमें उनका प्रेम तथा सद्भाव सम्पूर्ण रूप से प्रतीत होता है अतेव समाज में लोगों के इसी प्रेम तथा सद्भाव को सामाजिक सद्भाव कहा जाता है।

<u>समाज का अर्थ:-</u> सामान्य रूप से समाज शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता रहा है किंतु समाज शास्त्रियों का मत यह है कि समाज मात्र व्यक्तियों का समूह ही नहीं अपितु संबंधों की एक जटिल व्यवस्था भी है या यूं कहा जा सकता है कि जहाँ सभी लोग सद्भाव से रहे वह समाज है इसकी पुष्टि हम पहले ही कर चुके हैं।

समाज शब्द संस्कृत के दो शब्दों 'सम्' एवं 'अज' से निष्पन्न हुआ है। सम् का अर्थ है इक्ट्ठा व एक साथ 'अज' का अर्थ है साथ रहना। इस आधार पर समाज शब्द का अर्थ हुआ एक साथ रहने वाला समूह। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। मनुष्य ने अपने लम्बे इतिहास में एक संगठन को निर्मित किया है। वह ज्यों-ज्यों मस्तिष्क जैसी अमूल्य शक्ति का प्रयोग करता गया, उसकी जीवन

पद्धति दिन प्रतिदिन बदलती चली गयी और जीवन पद्धतियों के बदलने से उसकी आवश्यकताओं में ननिरंतर परिवर्तन भी होता चला गया और इन आवश्यकताओं ने मनुष्य को एक सूत्र में बाधना प्रारम्भ कर दिया तथा इस बंधन से संगठन बने और यही संगठन समाज कहलाये और मनुष्य इन्हीं संगठनों का अंग बनता चला गया।

सामाज एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति और परिवार स्व-हित की कामना तथा सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मिलजुल कर कार्य करते हैं। समाज शब्द का अर्थ विभिन्न शब्द कोषों में निम्न रूप से दिया गया है:-

' बृहत अंग्रेजी- हिंदी कोश में समाज का अर्थ यह बताया गया है कि " सम्प्रदाय, जन-समूह, समुदाय, कौम, जाति, संगठन एवं सामाजिक जीवन व रीति-रिवाज आदि। अतः कहने का यह अभिप्राय है कि जिस संगठन से उसके रहन-सहन, आदर्श एवं सभ्य व्यवहार का ज्ञान हो उसे ही समाज कहा जाता है।"[69]

' ज्ञान शब्दकोश' में समाज का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि- " मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति समान कार्य करने वालों का समूह आदि समाज कहलाता है।"[70]

' मानक हिंदी कोश' के अनुसार " किसी प्रदेश या भूखंड में रहने वाले लोग जिनमें सांस्कृतिक एकता होती है वह समाज कहलाता है।' कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी क्षेत्र के व्यक्ति अपनी धर्म वह रहने आदि की एक प्रक्रिया में जीवन यापन करते हैं तो वह समाज कहलाता है।"[71]

' बृहत हिंदी कोश ' में समाज शब्द का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि " एकत्र होना, मिलना समूह तथा विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित संस्था समाज कहलाती है अतः समाज व्यक्तियों के मिल-जुलकर कार्य करने वाली संस्था को कहा जाता है।"[72]

' नालंदा विशाल शब्द सागर ' में समाज का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार दिया गया है कि - "समूह या गिरोह किसी संस्था में रहने वाले अथवा एक जैसा व्यवसाय करने वालों को समाज कहा जाता है।"[73] जब कुछ व्यक्ति मिलकर एक स्थान पर रहकर एक ही जैसा व्यवसाय सफलतापूर्वक करने लगते हैं वह संघ समाज का रूप धारण कर लेता है।

' समाज विज्ञान कोश ' के अनुसार मानवीय संगठन की सबसे बड़ी और सबसे व्यापक स्वायत्त इकाई है जिसकी सदस्यता साधारणत: जन्म से ही अर्जित की जाती है और जिस में सब लोग संगठन के एक जैसे प्रतिमायों से बंधे रहते हैं।"[74] कहने का यह अभिप्राय है कि जहाँ व्यक्ति एक जैसे नियम से बांधकर अपनी समस्याओं का सामूहिक निवारण करते हैं वही समाज कहलाता है।

हिंदी पर्यायवाची कोश में ' भोलानाथ तिवारी ' ने समाज का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है कि- " संगठन, सोसायटी, मंडल, समुदाय या समूह ही समाज है।"[75] अतः व्यक्तियों का संगठन अथवा समूह ही समाज कहलाता है।

इस प्रकार विभिन्न शब्दकोशों के विवेचन अथवा विश्लेषण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि समाज उस संगठन, समूह, या समुदाय को कहा जाता है जिसमें लोग एकताबद्ध रहते हुए समान उद्देश्य की पूर्ति करते हैं एवम् इस संगठन की सदस्यता व्यक्ति को जन्मजात से ही प्राप्त होती है इस प्रकार किसी भूखंड पर रहते हुए समान संस्कृति के लोगों के संगठन को समाज की संज्ञा दी जाती है जिसमें व्यक्ति सद्भाव के साथ सबसे व्यवहार करता है तथा सभी के साथ अपना सद्भाव स्थापित करता रहता है।

समाज की परिभाषा:- समाज की परिभाषा देते हुए लापियरे का मत यह है कि- " समाज मनुष्य का समूह ना होकर अंत: क्रिया के आदर्शों के वे जटिल प्रतिमान है जो मनुष्य के बीच उत्पन्न होते हैं समूह के जीवन के निस्पंद भावात्मक विचार को समाज कहते हैं।"[76] कहने का भाव यह है कि मनुष्य में उत्पन्न होने वाले अंत: भाव ही समाज निर्माण तत्व को बनाते हैं।

हिंदी विद्वानों में से ओमप्रकाश सारस्वत का मत यह है कि- " समाज को केवल मनुष्य के समूह का नाम नहीं दिया अपितु इसे समूह के अंतर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था कहा गया है ये व्यक्ति संबंध समाज के विविध रिश्ते हैं, जो मनुष्य में सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यकलाप के दौरान स्थापित होते हैं।"[77] अतः व्यक्ति जीवन के विभिन्न पहलुओं व संबंधों को समाज कहा जाता है।

प्रसिद्ध विद्वान डी. एम. मजूमदार के अनुसार " समाज सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था है सामाजिक संबंध इतिहास के ऊपज होते हैं और इन्हें आदर्श मूल्यों द्वारा संगठित रखा जाता है अतः समाज एक सामाजिक एवं नैतिक आदर्श व्यवस्था है।"[78]

राहुल सांकृत्यायन ने समाज की परिभाषा देते हुए कहा है कि - " सीप में जैसे मोती का विकास होता है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का विकास उसके सामाजिक वातावरण में होता है।"[79] अतः नैतिक मूल्यों और आदर्शों की प्राप्ति मनुष्यों को एक साथ रहकर आचार- व्यवहार करके ही हो सकती है कहीं बाहर या अकेले नहीं।

गीता दुबे ने समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि- समाज मनुष्य, स्त्रियों, बच्चों का एक ऐसा समूह है जिसमें राजनीतिक न्याय तंत्र जैसे पहलू व्यवस्था, कार्य संभाल कर उसे चिरस्थायी बनाते हैं।"[80] कहने का भाव यह है कि स्वस्थ न्याय प्रणाली से सुसज्जित व्यक्तियों का समूह समाज कहलाता है।

प्रसिद्ध विद्वान जगदेव कुमार शर्मा के शब्दों में, " समाज एक ऐसी इकाई है जो व्यक्ति व्यक्ति के पारस्परिक सहयोग, सहचिंतन, सह अस्तित्व आदि पर टिकी हुई है।"[81] अत: एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों से सहयोग, चिंतन और मनन आदि से संबंधित समुदाय समाज कहलाता है।

विविध विद्वानों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि समाज, स्वास्थ्य, न्याय, तंत्र व बहुत ही सुंदर एक शासन प्रणाली है जोकि एक संगठित रूप से ऐसी संस्था या समुदाय है जिसमें व्यक्ति नैतिक व आदर्श मूल्यों को ग्रहण करते हुए अपने विचारों का विकास करने के लिए उचित मार्गदर्शन प्राप्त करता है तथा अन्य व्यक्तियों के सहयोग से वह अपने विचारों को क्रियात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

५.३:- धार्मिक सद्भावना:- धर्म, दर्शन और अध्यात्म यह तीन शब्द हमें कहीं ना कहीं देखने सुनने को अक्सर मिल ही जाते हैं तथा इसके बारे में हमें पुस्तकों में पढ़ने को भी मिलता है। इन तीनों ही शब्दों का अर्थ अपने आप में अलग-अलग है, लेकिन यहाँ बात सिर्फ धर्म की करते हैं कि आखिर धर्म की परिभाषा क्या है। हिन्दू सनातन सिद्धांत धारा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में धर्म का प्रमुख स्थान है। इन चारो को धर्म का मूल बिंदु माना जाता है। धर्म अपने आपमें एक बहुत बड़ा समूह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के अनुसार अपने इष्ट देव की उपासना करता है।

धर्म का शाब्दिक अर्थ:- "धर्म को अंग्रेजी में रिलिजन (religion) और ऊर्दू में मजहब कहते हैं, लेकिन यह उसी तरह सही नही है जिस तरह की दर्शन को फिलॉसफी (philosophy) कहा जाता है। दर्शन का अर्थ देखने से बढ़कर है। उसी तरह धर्म को समानार्थी रूप में रिलिजन या मजहब कहना हमारी मजबूरी है। मजहब का अर्थ सम्प्रदाय होता है। उसी तरह रिलिजन का समानार्थी रूप विश्वास, आस्था या मत हो सकता है, लेकिन धर्म नहीं। हालांकि मत का अर्थ होता है विशिष्ट विचार। कुछ लोग इसे सम्प्रदाय या पंथ मानने लगे हैं, जबकि मत का अर्थ होता है आपका किसी विषय पर विचार।"[82]

" यतो ऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।"[83]

धर्म वह अनुशासित जीवन क्रम है, जिसमें लौकिक उन्नति (अविद्या) तथा आध्यात्मिक परमगति (विद्या) दोनों की प्राप्ति होती है।

धर्म का शाब्दिक अर्थ :- धर्म का दूसरा शाब्दिक अर्थ यह है कि - " धर्म एक संस्कृत शब्द है। धर्म का अर्थ बहुत व्यापक है। ध + र् + म = धर्म। 'ध' देवनागरी वर्णमाला 19वां अक्षर और त वर्ग का चौथा व्यंजन है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह दन्त्य, स्पर्श, घोष तथा महाप्राण ध्वनि है। संस्कृत (धातु) धा + ड विशेषण- धारण करने वाला, पकड़ने वाला होता है। जो धारण करने योग्य है, वही धर्म है। पृथ्वी समस्त प्राणियों को धारण किए हुए है। जैसे हम किसी नियम को, व्रत को धारण करते हैं इत्यादि। इसका मतलब धर्म का अर्थ है कि जो सबको धारण किए हुए है अर्थात् धारयति- इति धर्म:।। अर्थात् जो सबको संभाले हुए है। सवाल उठता है कि कौन क्या धारण किए हुए हैं? धारण करना सही भी हो सकता है और गलत भी।"[84]

दरअसल, धर्म अपने आप में एक मूल स्वभाव की खोज है। ये एक रहस्य है, संवेदना है, संवाद है और आत्मा की खोज है जो कि मनुष्य के जीवन को निरंतर एक नया रूप प्रदान करती है और ये नाम अपने अंतर्मन की खोज का नाम है तथा जब भी हम धर्म कहते हैं तो यह प्रतीत होता है अर्थात् ऐसा अनुभव होता है कि कुछ है जिसे जानना मनुष्य के जीवन में बहुत ही आवश्यक है। धर्म

मनुष्य की एक शक्ति है और अपने आपमें एक रहस्य भी है। इसमें जो व्यक्ति प्रवेश करता है उसे कुछ ज्ञात नहीं होता वह व्यक्ति अनंत और अज्ञात परिवेश में छलांग लगाता है जो कि उसकी आत्मा को तृप्ति प्रदान करती है। धर्म के लिए कई विद्वानों ने अपने ज्ञान के अनुसार परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनमें से सुप्रसिद्ध परिभाषा निम्नलिखित हैं:-

परिभाषा:- मनुस्मृति मे धर्म की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि- " धृति: क्षमा दामोंअस्तेयं शोचं इन्द्रिय निग्रह:, धीविधा सत्य क्रोधो दशकों धर्म लक्षणं।"[85]

अर्थात् धैर्य, क्षमा, मन को प्राकृतिक प्रलोभनों में फंसने से रोकना, चोरी, त्याग, सोच, इंद्रिय, निग्रह, बुद्धि अथवा ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध धर्म के महत्वपूर्ण दस लक्षण हैं। यह सभी लक्षण घर में पर्याप्त रूप में पाए जाते हैं जिससे किसी भी धर्म की संपूर्णता इन्हीं दस लक्षणों के द्वारा संभव होती है।

परिभाषा:- सुप्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत में भी धर्म को समझाते हुए यह कहा गया है कि - " धारणाद धर्म नित्याहु; धर्मो धार्यते प्रजा:।"[86] अर्थात् जो धारण किया जाए और जिसे प्रजा धारण की हुई है वही धर्म।

हिन्दू सम्प्रदाय में धर्म को जीवन को धारण करने की एक ऐसी विधि बताया गया है कि जो जीवन को समझती और उसे परिष्कृत करती है। धर्म को परिभाषित करना उतना ही जटिल है जितना कि निराकार ईश्वर को, जो कि केवल मनुष्य के अंतर्मन में बसते हैं उसी प्रकार ये भी मनुष्य के भावों से प्रतीत होता है तथा ये मनुष्य की संस्कृति में नजर आता है। दुनियाँ के तमाम विचारकों ने जिन्होंने धर्म पर विचार किया है तथा अपनी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। इस नजरिए से वैदिक ऋषियों का विचार सबसे ज्यादा उपयुक्त लगता है कि - " सृष्टि और स्वयं के हित और विकास में किए जाने वाले सभी कर्म धर्म हैं।"[87]

प्रत्येक धार्मिक समुदाय को सद्भावना की सदा ही आवश्यकता रही है वर्तमान दौर में तो यह आवश्यकता बढ़ती ही चली आ रही है और इस हालात में देश की मजबूती बढ़ाने का यह सबसे असरदार उपाय है कि धार्मिक सद्भाव में वृद्धि की जाए प्रत्येक व्यक्ति समाज में शांति व्यवस्था हो और कई धार्मिक सम्प्रदायों के लोग धर्मांधता पर आक्रोश उत्पन्न करते रहते हैं जिससे लोगों को इससे हानि होती है तथा इससे उनके तनावों में निरंतर वृद्धि भी होती रहती है।

साम्प्रदायिक सोच के संगठन बड़ी चालाकी से भिन्न-भिन्न प्रकार के संदेह मनुष्य के अंदर उत्पन्न करते हैं और धार्मिकता का प्रचार-प्रसार भी बहुत चालाकी से करते हैं और तो और द्वेष भावना के बीज भी मनुष्य के अंदर बोते रहते हैं जिससे समाज में धर्म को लेकर कई तरह के दंगे फसाद एवं झगड़े होते रहते हैं जिससे धार्मिक सद्भावना समाप्त हो जाती है और मनुष्य के अंदर धर्म के प्रति एक कट्टरता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

धर्म एक ऐसा समुदाय माना जाता है जिसमें केवल अपने धर्म के लिए ही अधिक सद्भावना होती है प्रत्येक व्यक्ति अपने ही धर्म को सर्वोपरी रखता है और उसी धर्म के प्रति अपने सद्भाव भी व्यक्त करता है तथा समाज में अपने धर्म का ही वह प्रचार-प्रसार भी निरंतर करता रहता है।

धर्म के प्रति लगाव रखना ठीक है परंतु प्रत्येक व्यक्ति को सभी धर्मों को भी अपने धर्म के बराबर सम्मान देना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार एक धर्म का जितना महत्व होता है उसी प्रकार दूसरे धर्म का भी उतना ही महत्व है। प्रत्येक धर्म में हमें सद्भावना देखने को मिल जाती है वो चाहे हिंदू धर्म हो, मुस्लिम धर्म हो, सिक्ख धर्म हो, या इसाई धर्म। इन सभी धर्मों में अपनी-अपनी मान्यता, नियम तथा सद्भावनाएं सम्मिलित होती हैं।

५.४. साम्प्रदायिक सद्भावना:- साम्प्रदायिक सद्भावना एक ऐसी सद्भावना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म या सम्प्रदाय से लगाव रखता है तथा कोई भी व्यक्ति जब किसी अन्य सम्प्रदाय का बुरा न चाह कर प्रत्येक सम्प्रदाय को समान मानता है तब वहाँ साम्प्रदायिक सद्भावना अपने आप जन्म ले लेती है।

समाज में देखा जाए तो हमारे जितने भी धर्म ग्रंथ हैं हमें वो आपसी संघर्ष करने की शिक्षा नहीं देते, समाज के दलालों ने, समाज के ठेकेदारों ने, आमजन को भड़काने के लिए एवं जन में वैमनस्य फैलाने के लिए हर चीज का गलत संदेश जनमानस तक पहुंचाने का निरंतर प्रयास किया है तथा धर्म के प्रचारकों ने भोली- भाली जनता के मन- मस्तिष्क पर अर्थात् प्रस्तुत समाज के सामने उनकी मानसिकता पर गलत चीजों को अंकित कर दिया है लेकिन यदि शिक्षा रहेगी तथा मनुष्य जब व्यक्तिगत रूप से भिन्न - भिन्न साम्प्रदायिक पुस्तकों का अध्ययन करेगा तब उसको पता चलेगा कि हमारे धर्म में ऐसा कुछ भी नहीं है कि हम मनुष्य को मारे, गाय को मारे या किसी अन्य जीव को मारकर उसका सेवन करें यह ना तो कुरान में लिखा है और ना ही किसी अन्य धर्म-ग्रंथ गीता या बाइबल में क्योंकि सर्वविदित है कि -

' चार वेद छ: शास्त्र में,

लिखी है बातें दो।

दुख दीन्ही दुख होत है,

सुख दीन्ही सुख हो।। '

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार वेदों और छह शास्त्रों में भी यही दो बातें लिखी हैं कि यदि आप किसी को दुख देते हो तो आपको भी दुख भोगने होंगे और यदि किसी को सुख देते हो तो आपको भी सुख की प्राप्ति होगी। इसके पश्चात् साम्प्रदायिक सद्भावना की कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार से हैं :-

सम्प्रदाय के संदर्भ में कहा गया है कि -" सम्यक प्रकर्षेण ददाती शिष्टम् परंपरागत उपदेशं मंत्रं वाले य: स सम्प्रदाय: ।"[88] अर्थात् जो शिष्ट और परंपरागत उपदेशों या मंत्रों को भली प्रकार लोगों के सामने प्रस्तुत करे उसे सम्प्रदाय कहा जाता है।

साम्प्रदायिकता की अन्य परिभाषा यह है कि - " आपसी मत भिन्नता को सम्मान देने की बजाय विरोधाभास का उत्पन्न होना अथवा ऐसी परिस्थितियों का उत्पन्न होना जिससे व्यक्ति किसी अन्य धर्म के विरोध में अपना वक्तव्य प्रस्तुत करें, वह साम्प्रदायिकता कहलाती है। "[89]

सीतराम झा जी साम्प्रदायिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - "अनेक गुरु और विभिन्न व्यक्ति समुदायों के कारण विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित हो जाते हैं अपने- अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए कभी-कभी वे आपस में संघर्ष भी कर लेते हैंं।"[90]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर साम्प्रदायिक सद्भावना को अन्य रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाए तो संतों के समय देश में मुसलमानों के आगमन और उनके शासन तथा धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया से हिंदू अत्यंत दुखी रहा करते थे उनको सत्ता पक्ष की ओर से किसी भी प्रकार का कोई भी सहयोग प्राप्त नहीं होता था, उल्टे उन सभी को भिन्न- भिन्न प्रकार के दंड देकर सभी हिंदुओं को प्रताड़ित किया जाता था। इसके परिणाम स्वरूप हिंदू और मुसलमानों में साम्प्रदायिक और धार्मिक टकराव प्राय: होते रहते थे। ऐसी विकट स्थिति में साम्प्रदायिक सद्भावना बिल्कुल भी नहीं थी ये दोनों एक दूसरे को शत्रु समझते थे और एक दूसरे की जान लेने के लिए उतारू रहते थे। इसके अतिरिक्त हिंदुओं में भी विभिन्न प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय,धार्मिक मतवाद, पंत आदि प्रचलित थे। इन सभी में भी किसी भी प्रकार का तालमेल नहीं था तथा आय दिन ये भी आपस में ही एक दूसरे का विरोध करते रहते थे। एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के कर्मकांडों की खिल्ली उड़ाया करते थे इसी वजह से भारतीय समाज अनेक भागों में बंटा हुआ था। इस अलगाव के कारण भारतीय समाज में बिखराव आ गया था परंतु इस अलगाव के पश्चात् दोनों धर्मों को यह ज्ञात हुआ कि जो हुआ वह ठीक नहीं हुआ तथा दोनों धर्मों के बीच सद्भावना का प्रसार कई स्थानों पर हुआ।

मंजूर एहतेशाम जी ने इस समस्या को साक्षात रूप में देखा ही नहीं बल्कि उसे झेला भी था इस पर एहतेशाम जी कहते हैं कि - "व्यष्टि के समस्त ग्रुप का नाम समाज है समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से एक दूसरे से जुड़ा हुआ है क्योंकि समाज का मूल आधार पर परिवार ही होता है जिसके कारण से प्रत्येक धर्म में साम्प्रदायिकता का भाव नहीं होना चाहिए।"[91]

इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष रूप से साक्षी है कि कालचक्र की गति सर्वदा सक्रिय रहती है जब एक से अधिक धर्म चुनौती भरे शब्दों में अपने धर्म का प्रचार प्रसार करते हैं तो अन्य धर्म के लोगों के मन में संघर्ष का भाव उत्पन्न होना आरंभ हो जाता है ऐसे ही धर्मों के आपसी टकराव में साम्प्रदायिकता का भाव उत्पन्न होता है जिसमें भिन्न- भिन्न धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए अन्य धर्म के अनुयायियों के संघ संघर्ष करते रहते हैं और अपने धर्म को विस्तार एवं गति प्रदान करने के लिए अन्य धर्मों के संदर्भ में कटु शब्दों का प्रयोग करने से भी पीछे नहीं हटते।

जब तक प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के लोग यह मानते रहेंगे कि उन्ही के धर्म को ही परम लोक की प्राप्ति हुई है अन्य किसी भी धर्म को नहीं तब तक धर्मों के अनुयायी माया मोह के भवर में पड़े रहेंगे और इस अंधकार में भटकते रहेंगे और तब तक धार्मिक एकता भी स्थापित नहीं हो सकती।

साहित्यकारों ने भी इस साम्प्रदायिकता को अपनी रचनाओं में समाविष्ट किया है एवं कथा-साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार मंजूर एहतेशाम जी ने भी साम्प्रदायिक सद्भावना को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया जिसकी पुष्टि अगरप्रेक्षित अध्यायों में हम करेंगे।

५.५. सांस्कृतिक सद्भावना:- संस्कृति यह एक ऐसा शब्द है जो कि सामाजिक परिवेश के रहन-सहन, रीति रिवाज, खान-पान से हमारा परिचय करवाता है किसी शब्द से प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को पहचानता है तथा उसका समाज में प्रचलन भी करता है चाहे वह पूरे संसार का कोई भी कोना हो एक क्षेत्र अपने आपमें अपनी संस्कृति को संजोए हुए होता है। कई बार भाषा के किसी भी शब्द के अंतर्गत इतने अधिक अर्थों को समाहित कर लिया जाता है कि उस शब्द के किसी भी एक अर्थ को निश्चित करना अत्यंत दुर्लभ हो जाता है एवं संस्कृति शब्द एक प्रकार का अलौकिक शब्द है। जिसमें प्रत्येक धर्म की प्रत्येक व्यक्ति की या प्रत्येक स्थान की आलोकिक्ता का समावेश पाया जाता है।

आज संस्कृति शब्द के अंतर्गत हम जिन अर्थों को समाहित करते हैं, उनका इतना बड़ा भंडार है कि प्रत्येक विद्वान उसे अपने ज्ञान के अनुसार अपने - अपने ढंग से ही अपनी इच्छा के अनुरूप ग्रहण करने का प्रयास करते है तथा विद्वानों के इन प्रयासों में कुछ प्रयास निसंदेह श्रेष्ठता प्राप्त किए हुए हैं। इसलिए यहाँ उनकी चर्चा करना आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों में **रैडोलिफ ब्राउन** संस्कृति को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि - " संस्कृति वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से किसी सामाजिक वर्ग या श्रेणी में विचारानुभूति या क्रिया के सु-संस्कृत ढंग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रांत किये जाते हैं।"[92]

टायलर के अनुसार " संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला-आचार, कानून प्रथा ऐसी अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[93]

विडिंगटन का विचार है कि - " संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणी शास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है तथा अपने आपको अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।"[94]

टी. एस. इलियट की अवधारणा यह है कि,- " संस्कृति विभिन्न क्रियाओं का योग मात्र नहीं है, बल्कि वह जीवन यापन की एक पद्धति है जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।"[95]

डॉ. सर्वपल्ली राधकृष्णन के अनुसार, " संस्कृति वह वस्तु है जो स्वभाव, माधुर्य, मानसिक, निरोग्यता एवं आत्मिक शक्ति को जन्म देती है।" [96]

मंगलदेव शास्त्री जी के अनुसार," किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक संबंधों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्तद आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए।"[97]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल इसे मानव की जीवन यात्रा के साथ संबंधित करते हुए कहते हैं, कि " संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है।"[98]

हिंदी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि एवं आलोचक **रामधारी सिंह दिनकर** जी का कहना है कि-- "संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं, उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को थामे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।"[99]

इस प्रकार संस्कृति का मनुष्य के जीवन से बहुत गहरा संबंध माना जाता है जिसकी सद्भावना मनुष्य की पीढ़ी दर पीढ़ी में देखने को हमें कहीं ना कहीं मिल ही जाती है इसी बात को **महादेवी वर्मा** पूर्ण करती हुई कहती है कि - " संस्कृति शब्द से हमें जिसका बोध होता है, वह वस्तुत: ऐसी जीवन पद्धति है, जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव- निर्मित परिवेश संभव कर देती है। और फिर दोनों परिवेशों की संगति में निरंतर स्वयं आविष्कृत होती रहती है। यह जीवन पद्धति ना केवल बाह्य, स्थूल और पार्थिव है और न मात्र आंतरिक, सूक्ष्म, विचार, कल्पना, भावना आदि का संस्कार उसकी चेष्टा, आचरण आदि का बाह्यचार की परिष्कृति उसके अन्तर्जगत पर प्रभाव डालती है।"[100]

संस्कृति के सद्भाव को कवि **अज्ञेय** भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हुए कहते हैं कि-- " संस्कृति मूलतः एक-मूल्य दृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता प्रभावों का नाम है - उन सभी निर्माता प्रभावों का जो समाज को, व्यक्ति को, परिवार को, सबके आपसी संबंधों को, निरूपित और निर्धारित करते हैं।"[101]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की भी यही मान्यता है कि " मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।"[102]

यह सद्भावना एक ऐसी सद्भावना है जो कि मनुष्य को वैचारिक स्तर से गढ़ना शुरू करती है और उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रस्फुटित होती है। जिससे मनुष्य अपने विचारों को संस्कृति के माध्यम से परिवर्तित करता रहता है। यह एक ऐसी विरासत है जो बच्चे को जन्म के साथ- साथ ही प्राप्त हो जाती है। यह हमें तामसिक और सामाजिक गुणों से ऊपर उठकर सात्विक गुणों से परिचित भी करवाती है। जिससे मनुष्य के विचारों में सद्भावना के पुट समाहित होते चले जाते हैं। अतः मनुष्य को ऊपर उठाने के लिए यह सद्भावना ही आवश्यक तत्व मानी जाती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी समस्त गुणों का नाम संस्कृति है।

इस प्रकार सांस्कृतिक सद्भावना का संबंध मानव के भौतिक, अध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यक, दार्शनिक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के जीवन के विकासात्मक पहलुओं से मना जाता है और यही पहलू मनुष्य के संपूर्ण जीवन में एक विकासात्मक गति का कार्य करते हैं।

इन सभी उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के अंदर जन्म से ही संस्कृति के प्रति सद्भाव विद्यमान रहते हैं तथा मनुष्य का उसी संस्कृति से ज्यादा लगाव रहता है जिस संस्कृति में वह पला- बढ़ा होता है एवं वह उसी संस्कृति को अपनी आधारशिला मानकर चलता है तथा उसके साथ-साथ अन्य संस्कृतियों का भी अपने जीवन में समायोजित करता रहता है।

५.६. भाषाई सद्भावना:- कथा-साहित्य में भाषा एक ऐसा माध्यम है जो अपने पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करके रोमांच तथा भावात्मकता बनाए रखने का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है जिससे पाठक रचनाओं में अपनी भाषा के प्रति सद्भाव को ढूंढ कर उसमें अपनी रुचि दिखाता है और उसी भाषाई सद्भाव से पाठक को लेखक की रचनाओं को समझने का स्रोत मिलता है तथा लेखक द्वारा रची गई रचनाओं के भावों को आत्मसात करने में भी वह सहायक सिद्ध होती है।

भाषाई सद्भाव सद्भाव की पुष्टि करने वाली कुछ बातें हैं जोकि सर्वविदित है जिनसे पाठक को रचना के प्रतिभाशाली सद्भाव परिलक्षित हो जाते हैं तथा वह उसमें रमता चला जाता है:-

१):- भाषा प्रवक्ता के विचारों को श्रोता तक या पाठक तक पहुंचाती है यानी कि वह रचनाओं में अपने विचारों से मुख्य रूप से संचार का कार्य करती है।

२):- भाषा, एक मानव समुदाय विशेष के विचार-संचार का माध्यम है जिसका प्रयोग रचनाकार अपनी रचनाओं में प्रयोग करता है।

३):- भाषा एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें उसके सभी अंग मिलकर रचनाकार की रचनाओं में रचना कार्य करते हैं। इन सभी बातों की पुष्टि करते हुए कुछ भाषाई सद्भावना की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं:-

स्वीट के अनुसार -"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।"[103]

गुणे के अनुसार -"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा हृदयात्मक भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण भाषा है।"[104]

जेस्ट पिटरसन ने भाषा को परिभाषित करते हुए कहा है कि - " मनुष्य ध्वनयात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है इस प्रकार के कार्यकलाप को भाषा की संज्ञा दी जाती है।"[105]

बाबूराम सक्सेना के अनुसार-" जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार - विनिमय करता है उसे भाषा कहते हैं।"[106]

सुकुमार सेन के अनुसार, -" अर्थवान कंठोद्गीर्ण ध्वनि समष्टि भाषा है।"[107]

उपर्युक्त परीभाषाओं के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि भाषाई सद्भावना एक ऐसी सद्भावना है जो कि प्रत्येक व्यक्ति के आचरण में अपने आप ही प्रतीत हो जाती है तथा प्रत्येक व्यक्ति की उच्चारण ध्वनियों पर यह निर्धारित करती है इसका प्रभाव रचनाकारों पर भी उनकी रचनाओं मे साफ दिखाई पड़ता है। कथा-साहित्य के किसी भी रचनाकार का उसकी भाषा से जन्मजात लगाव होता है जो की रचना करते वक्त उसकी भाषा में पाठक को साफ-साफ परिलक्षित होता है।

कोई भी रचनाकार अपनी रचना करते वक्त पहले अपने क्षेत्र या मातृभाषा को प्रथम स्थान देता है वह अपनी रचना में अपने भाषाई सद्भाव को इस प्रकार समाहित करता है जिससे पाठक रचनाकार की रचना को पढ़ने के साथ- साथ उसके भाषाई सद्भाव को भी समझता चला जाता है।

जिस प्रकार हम समाज में लोगों के साथ आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग आपसी संचार करने के लिए करते हैं उसी प्रकार साहित्यकार भी उस भाषाई सद्भावना को ध्यान में रखकर ही अपनी सभी रचनाओं की रचना करता है जिससे कि पाठक उस रचना को पढ़ सके तथा आसानी से लेखक के भाव को अपनी भाषा के स्तर पर समझ सके। इसी वजह से लेखक इस भाषाई सद्भावना का ध्यान अवश्य रखता है।

५.७:- राष्ट्र के प्रति सद्भावना:- यह सद्भावना एक ऐसी सद्भावना है जो की एक देश में रहने वाले सभी नागरिकों को एक सूत्र में बांधने का कार्य करती है इस भावना में सभी देशवासी अपने देश या राष्ट्र के लिए एकजुट होकर साथ- साथ चलते हैं तथा अपने देश की रक्षा एवं विकास के लिए अपना महत्वपूर्ण योगदान भी देते हैं। यह भावना हमारे अंदर तब जाग उठती है जब हमारे देश के प्रति कोई अन्य देश बुरी नजर रखता है तथा सदा हमारे देश को नुकसान पहुंचाने के लिए कार्य करता है उस समय प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए अपनी जान तक न्योछावर कर देता है। राष्ट्र के प्रति सद्भाव का एक बहुत ही महत्वपूर्ण श्रेय हमारे देश के सैनिकों को जाता है जो कि अपने अंदर राष्ट्र के प्रति सद्भावना को रखते हैं तथा अन्य नागरिकों की तुलना में राष्ट्र के प्रति अपनी जान तक न्योछावर करने के लिए पीछे तक नहीं हटते। जिनकी वजह से हम और हमारा राष्ट्र सुरक्षित रहता है तथा हम खुलकर अपने देश में जीवन व्यतीत करते हैं।

यह भावना आम आदमी के अंदर तब प्रज्ज्वलित होती है जब कोई बाहरी देश का नागरिक हमारे देश की किसी भी सम्मानित वस्तु का निरादर करता है तथा उसका अपमान करता है उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपने देश के प्रति राष्ट्रीय सदभाव रखते हुए उसका विरोध करता है तथा उस मूल्यवान राष्ट्रीय वस्तु का उसे सम्मान करने के लिए कहता है।

साहित्यकार भी अपने कथा-साहित्य को रचते हुए अपनी रचनाओं में राष्ट्र के प्रति सद्भावना को अवश्य ही व्यक्त करता है अपनी रचना में किसी न किसी स्थान पर वह राष्ट्र के कुछ पहलुओं को जोड़ता चला जाता है जिसके कारण से उसकी रचना राष्ट्र के प्रति सद्भाव लिए हुए प्रतीत होती है। सद्भावना को स्पष्ट करते हुए कुछ विद्वानों ने अपने मतानुसार कुछ परिभाषाएँ दी है जो कि इस प्रकार है:-

ब्राईस के अनुसार," राष्ट्रीयता वह जनसंख्या है जो भाषा और साहित्य विचार प्रथम एवं परंपराओं जैसे बंधनों से परस्पर इस प्रकार बनी हुई है कि वह अपनी एकता अनुभव करें तथा उन्हें आधारों पर बनी हुई जनसंख्या से अपने आप को भिन्न ना समझे।"[108]

डॉ. सुधींद्र जी ने " भूमि, भूनिवास, जन और जन के सांस्कृतिक समूचे को राष्ट्र कहा है।"[109]

डॉ. आबिद हुसैन के मतानुसार," राष्ट्र के लिए किसी जनसमूह की राजनीतिक एकता के साथ-साथ सांस्कृतिक एकता का होना भी जरूरी है।"[110]

उपर्युक्त विद्वानों के मत अनुसार राष्ट्र के प्रति सद्भावना वह सद्भावना है जो कि प्रत्येक राष्ट्रीय व्यक्ति अपने मन में लिए रखता है। अर्थात् राष्ट्र के प्रति किसी भी प्रकार का भाव राष्ट्रीय सद्भावना कहलाता है। एवम् राष्ट्र के प्रति सद्भाव का होना किसी भी नागरिक के देशभक्त होने का सबूत माना जाता है और अधिक से अधिक अपने देश की सुरक्षा तथा विकास के लिए सोचे तथा राष्ट्रीय कार्यों में अपना योगदान दे तथा उस नागरिक का राष्ट्र के विकास में इस तरह के योगदान को ही उसका राष्ट्र के प्रति सद्भाव कहा जाता है।

राष्ट्र के प्रति सद्भावना को व्यक्त करती हुई कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं - "राष्ट्रीयता एक अनुभूति है जिसका उद्भव मानव चेतन में होता है। जिस प्रकार मानव मन के असंख्य संवेगों, मनोविकारों और मनोभावों के अनुरूप मानव हृदय में प्रेम, घृणा , ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोभाव विकसित और उन्नत होते हैं। उसी प्रकार राष्ट्रीय भावना भी मानव हृदय में विकसित आलोकित और उन्नत होती है।"[111]

सद्भावना अनुभूति की गहराइयों में ही हमें प्राप्त होती है। संपूर्ण रूप से निराकार होते हुए भी यह केवल अनुभूत्य रूप में ही प्रतीत होती है। इसमें व्यापकता, भावनात्मकता, आध्यात्मिकता एवं मनोवैज्ञानिक शक्ति इतनी प्रबल एवं तीव्र गति में होती है कि वह सामान्य जन से लेकर संपूर्ण राष्ट्र एवं विश्व उसकी संपूर्ण सीमा में आने वाले प्रत्येक बौद्धिक प्राणी पर यह अपने प्रभाव को छोड़े बिना नहीं रहती। इसकी पुष्टि करते हुए **अरविन्द** जी कहते हैं कि-- " राष्ट्र ऐसी शक्ति है जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि-कोटि जनता की व्यापक शक्तियों का समाविष्ट रूप है।"[112]

राष्ट्र के प्रति सद्भावना मानव के हृदय के एक स्वाभाविक प्राकृत-भाव का नाम है। जिस प्रकार एक बच्चे के हृदय में सहज ही अपनी माँ के प्रति प्रेम-पूर्ण भाव उसके जन्म से ही होता है वैसे ही वह अपनी मातृभूमि अर्थात् जन्मभूमि के प्रति हमेंशा आसक्त रहता है इस स्वाभाविक प्रेम संबंध को स्पष्ट करते हुए **डॉ. प्रेमलता बाफना जी** का वक्तव्य है कि- " मनुष्य के हृदय में अपने देश के प्रति स्वाभाविक रूप से प्रेम होता है। जन्म से ही अपनी मातृभूमि के प्रति उनके मन में अपने देश के प्रति स्वाभाविक रूप से प्रेम करता है। जन्म से ही अपनी मातृभूमि के प्रति उनके मन में अधिक श्रद्धा भक्ति और आदर की भावना रहती है..... मातृभूमि के प्रति इकाई है असीम प्रेम उस समय और भी ऊंचाई पर पहुंच जाता है जब उसके प्यारे देश के गौरव को धब्बा लगता है, उसके देश का स्वाभिमान आहत होता है अथवा उसके देश को कोई दवा ना जाता है ऐसे समय में उसका देश प्रेम या राष्ट्र के प्रति उसका सद्भाव प्रखर रूप से सामने आता है।"[113] इसी प्रकार राष्ट्र के प्रति सद्भाव को

व्यक्त करते हुए **डॉ. देवराज पथिक** जी की कुछ पंक्तियाँ निम्न है- " देश के प्रति त्याग, समर्पण और बलिदान की अनुगूंज देश भक्ति की अनिवार्य शर्त है।"[114] इससे यह प्रतीत होता है कि राष्ट्र के प्रति सद्भावना के लिए किन-किन तत्वों की आवश्यकता होती है।

हमारे प्राचीन साहित्य के पृथ्वी सुक्त में मातृभूमि के दिव्य और विराट रूप के साथ मानव ह्रदय की रागात्मक अनुभूति को इन पंक्तियों द्वारा निरूपित किया गया है जिससे राष्ट्रीयता की भावना प्रत्यक्ष रूप से नजर आती हैं -

" यते मध्यं पृथिवी यच्चनाभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्व: संबभूतु:।

धेहि आभिन: पवस्व मताभूमि पुत्रोहं पृथिव्या:।।"[115]

डॉ राजेंद्र प्रसाद मिश्र के मतानुसार - " राष्ट्रीयता मूलत: एक भावना है जो देश प्रेम या राष्ट्र भाव से अनुप्रमाणित होती है।"[116]

उपरोक्त विवेचन द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि राष्ट्रीय सद्भावना किस प्रकार मनुष्य के मन मस्तिष्क में समाई हुई रहती है तथा व्यक्ति राष्ट्र के प्रति किस प्रकार अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। जिससे मनुष्य के भाव देश के लिए साफ परिलक्षित होते हैं। जब मनुष्य अपने राष्ट्र के प्रति किसी अन्य राष्ट्र का विरोध देखता है तो उस मनुष्य का अपने राष्ट्र के प्रति सद्भाव प्रखर होकर सभी के सामने प्रस्तुत होता है और वह मनुष्य अपने राष्ट्र के सम्मान के लिए अपने आप को न्योछावर तक कर देता है।

-: संदर्भ सूची :-

१. समाजशास्त्र (व्यक्ति एवं समाज), अरस्तू, पृष्ठ संख्या-५

२. शोधार्थी की निजी वार्ता : एहतेशाम जी से, दिनांक- ६-२-२०१६

३.दास्तान - ए - लापता, मंज़ूर एहतेशाम, पृष्ठ संख्या - ७०

४. शोधार्थी की निजी वार्ता - डॉ. अश्वनी कुमार, दिनांक - १०-९-१५

५. हिन्दी शब्द सागर (नवां भाग), रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या - ६३४

६. समाज- दर्शन की रूपरेखा, जे. एम. मैकेंजी, पृष्ठ संख्या - १६

७. मानक हिन्दी कोश (पाँचवा भाग), रामचंद्र वर्मा, पृष्ठ संख्या - १२४

८. व्यक्ति चेतना और स्वतंत्रोत्तर हिन्दी उपन्यास, पुरषोत्तम दूबे, पृष्ठ संख्या - ३

९. नीतिशास्त्र की भूमिका, हृदय नारायण मिश्र और जमुना प्रसाद अवस्थी, पृष्ठ संख्या- २४६

१०. संस्कृत हिन्दी कोश, संपा. वामन शिवराम आपटे-१९८८, पृष्ठ संख्या - १०७६

११. संस्कृत - शब्दार्थ कौस्तुभ, संपा. चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा व पं तारिणी झा - १९७७, पृष्ठ संख्या - १२२३

१२. संस्कृत हिन्दी कोश, संपा. वामन शिवराम आपटे-१९८८, पृष्ठ संख्या - १०७६

१३. मानक हिन्दी कोश, संपा. रामचंद्र वर्मा-१९६६, पृष्ठ संख्या -२८५

१४. वही पृष्ठ संख्या - २८५

१५. सोशियोलॉजी, आर. टी. लपियरे, पृष्ठ संख्या-३७

१६. www.hindivibhag.com, निशिकांत

(Gmail id- nishi 076nk@gmail.com), दिनांक- २५-६-१७

१७. Society, Macaiver and Page, American Book company, New York, १९५९ , पृष्ठ संख्या -६

१८. Principles of Sociology, F. H. Giddings, page-27 :-

" society is system of uses and procedure of authority and mutual aid of many groupings and divisions of controls of human behaviour and liberties it is the rebot social relationship and is always changing."

१९. Hand Book of Sociology, E.B. Reuter, Page - 157

" Society is an abstract term that can notes the complex of inter relations that exist between and among the members of the group

२०. Encyclopedia of Social Science Vol. XVI, Tolcott Parsons, Page - 231.

" Society may be defined as total Complex of Human Relationship so far as they grow out action in terms of means - end relationships, intrinsic or symbolic."

२१. Sociology, Morris Ginsberg, New York-१९६७, Page - ५९

" Societies the collection of individuals United by certain relations or modes of behavious which mark them off from others, who do not enter into those relations or two differ from them in behaviour."

२२. Sociological analysis, L. Wilson & W. L. Kolf, Harcourt Bros, New York, १९४९, Page no-२६७

२३. Element's of Sociology, Write, American Book Company, New York, १९४९, Page no-५

२४. साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ संख्या - ०६

२५. मानव - व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था, डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद, पृष्ठ संख्या - २९

२६. समाजवाद, डॉ. संपूर्णानंद, महात्मा गांधी, काशी विद्यपीठ, वाराणसी,पृष्ठ संख्या-१

२७. समाज- दर्शन, कैलाशनाथ जैतली, पृष्ठ संख्या - १७

२८. राजनीति और दर्शन, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, पृष्ठ संख्या- १०७

२९. हिन्दी निबंध, डॉ. शिवकुमार मिश्र १९९१, पृष्ठ संख्या-२७

३०. Kingsley Davis Columbia University, The MacMillan Company, New York (human society १९४९) Page No-१५

३१. सूखा बरगद, मंज़ूर एहतेशाम, पृष्ठ संख्या - २०१-२०२

३२. कहानी रमज़ान में मौत, मंज़ूर एहतेशाम, पृष्ठ संख्या -१३

३३. रिज़ डेविड, बुद्धिष्ट इन्डिया, पृष्ठ संख्या-३९

३४. ऋगवेद, १०/१०/१२, आचार्य गोविन्द प्रसाद

३५. जातक कथा (प्रथम भाग), षष्ठ गाथा ८७०, पृष्ठ संख्या-२०१

३६. बुद्ध कालीन समाज और धर्म, मदन मोहन सिंह, पृष्ठ संख्या-११

३७. वही पृष्ठ संख्या- ११

३८. प्राचीन भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अध्ययन, कैलाश चंद, पृष्ठ संख्या- ८१

३९. बुद्धिष्ठ इंडिया, रीज़ डेविड, पृष्ठ संख्या- ३९

४०. मंज्झिम निकाय-२, भिक्षु जगदीश कश्यप, पृष्ठ संख्या -८४

४१. बुद्ध कालीन समाज और धर्म, मदन मोहन सिंह, पृष्ठ संख्या-११

४२. जातक द्वितीय (हिन्दी अनुवाद), मदंत आनन्द कौसल्यायन, पृष्ठ संख्या-१३०

४३. रिज़ डेविड, बुद्धिष्ट इन्डिया, पृष्ठ संख्या- ४६

४४. जातक तृतीय, गा. ६८-६९, पृष्ठ संख्या- १९४-१९५

४५. गीता, ९/३१/ श्री मद्भागवत गीता संवत्- २०२९

४६. प्राचीन भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अध्ययन, कैलाश चंद, पृष्ठ संख्या- ८२

४७. बुद्ध कालीन समाज और धर्म, मदन मोहन सिंह, पृष्ठ संख्या- १२

४८. सुत निपात, १/७/२१/ ३/९/५७

४९. दीर्घ निकाय-१, भिक्षु जगदीश कश्यप, पृष्ठ संख्या-१३१

५०. मंज्झिम निकाय-२, भिक्षु जगदीश कश्यप, पृष्ठ संख्या- १२८

५१. समाज का स्वरूप, google Wikipedia.com, date- 26/04/2016

५२. राजनीतिक समाजशास्त्र, www.Wikipedia.com दिनांक - २६/०४/२०१६

५३. कवल नयन, नई कहानी में सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण, पृष्ठ संख्या -४

५४. द सोशियल सिस्टम, टालकॉट पारसन, पृष्ठ संख्या - ५६

५५. Collins dictionary.com on net search - ३०/०६/१८

५६. International Encyclopedia of Social Science, Devid L., Page-304

५७. समाजशास्त्र के मूल आधार, द्वारका दास गोयल, पृष्ठ संख्या-८८

५८. An introduction to Anthropology, Beals and Hoizer, Page no - 382

५९. हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण, महेंद्र कुमार जैन, पृष्ठ संख्या - ६

६०. Human Society, Devis Kingsley, Page no.-397

६१. समाजशास्त्र के सिद्धांत, विभूषण डी. आर. सचदेवा, पृष्ठ संख्या-२८६

६२. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, भारतीय समाज, पृष्ठ संख्या-१३१

६३. सामाजिक विघटन, डॉ. सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या- २०५

६४. भारतिय समाज का स्वरूप, सीताराम झा, पृष्ठ संख्या- ७६

६५. हिन्दी विश्वकोश, डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - १८२

६६. समाजशास्त्र की नई दिशएं, एस. एल. दोशी, पी. सी. जैन, पृष्ठ संख्या-६४

६७. हिन्दी उपन्यास में सामाजिक चेतना, डॉ. लाल सिंघ, पृष्ठ संख्या - ५

६८. समाजशास्त्र , सत्यकेतु विद्यालंकार, पृष्ठ संख्या- ३६

६९. वृहत अंग्रेजी - हिन्दी कोश, हरदेव, पृष्ठ संख्या- १७७८

७०. ज्ञान शब्दकोश, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या - ८१७

७१. मानक हिन्दी कोश, रामचंद्र वर्मा (स.), पृष्ठ संख्या-४१७

७२. वृहत हिन्दी कोश, कालिका प्रसाद (स.), पृष्ठ संख्या- १४४१

७३. नालंदा विशाल शब्दसागर, नवल जी (स.), पृष्ठ संख्या- १४०७

७४. समाज विज्ञान कोश, ओम प्रकाश (स.), पृष्ठ संख्या-२०६

७५. हिन्दी प्रयायवाची कोश, भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ संख्या- पृष्ठ संख्या-५०९

७६. Sociology, lapiyre, Page no.- 37

७७. बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक, ओम प्रकाश सारस्वत, पृष्ठ संख्या- २

७८. सामाजिक मानवशास्त्र परिचय, डी. एम. मजूमदार, पृष्ठ संख्या- ४५

७९. मानव समाज, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ संख्या- १०

८०. पंत काव्य में समाज एवं संस्कृति, गीता दूबे, पृष्ठ संख्या-४१

८१. मतिराम सत्सई में समाज और संस्कृति, जगदेव कुमार शर्मा, पृष्ठ संख्या-१५

८२. www.hindiwebdunia.com, अनिरुद्ध जोशी ' शतायु ' (आलेख), दिनांक- ६/१२/२०१६

८३. वही

८४. वही

८५. वही

८६. Blog, Rama Bhardwaj, Search Date- Monday,08/02/2016

८७. पूर्ववत्

८८. भारतीय समाज का स्वरूप, सीता राम झा ' श्याम ', पृष्ठ संख्या-१२३

८९. www.wikipedia.org, Search Date- Monday,08/02/2016

९०. भारतीय समाज का स्वरूप, सीता राम झा ' श्याम ', पृष्ठ संख्या-१२३

९१. शोधार्थी का मंज़ूर एहतेशाम जी से प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार, दिनांक- ७-२-२०१६

९२. इंटरनेशनल इ - साइकिलोपेडिया ऑफ सोशल साइंसेज, खण्ड -३, १९६८,
पृष्ठ संख्या- ५३६

९३. भारतीय सामाजिक संस्थाएं, रविन्द्र मुखर्जी, पृष्ठ संख्या- १०

९४. पूर्ववत ।

९५. Notes Towards The definition of culture, T. S. Eliot,
page no - 29

९६. स्वतंत्रता और संस्कृति, राधाकृष्णन, पृष्ठ संख्या-३३

९७. भारतीय संस्कृति का विकास, मंगलदेव शास्त्री, पृष्ठ संख्या- ४

९८. कला और संस्कृति, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- ११

९९. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या- ४

१००. भारतीय संस्कृति के स्वर, महादेवी वर्मा, पृष्ठ संख्या- ४७

१०१. धार और किनारे, अज्ञेय, पृष्ठ संख्या -३६

१०२. ग्रंथावली खण्ड-१, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या-२००

१०३. सामान्य भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, स्वीट, पृष्ठ संख्या- ३

१०४. सामान्य भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, गुणे, पृष्ठ संख्या - ३

१०५. सामान्य भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, जेस्ट पिटरसन, पृष्ठ संख्या - ३

१०६. सामान्य भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ संख्या - ३

१०७. सामान्य भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, सुकुमार सेन, पृष्ठ संख्या - ३

१०८. राजनीतिशास्त्र के सिद्धांत, श्री रामचन्द्र अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- ८२

१०९. हिन्दी कविता में युगांतर, डॉ. सुधीन्द्र, पृष्ठ संख्या - ३७

११०. भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, डॉ. आबिद हुसैन, पृष्ठ संख्या- ४-५

१११. प्रभा (मार्च १९२५), बाल कृष्ण नवीन, पृष्ठ संख्या- २३

११२. भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत, श्री कर्ण सिंह, पृष्ठ संख्या- ७७

११३. शोध एवं साहित्यिक निबंध, डॉ. प्रेमलता बफान, पृष्ठ संख्या-१३४

११४. नई कविता में राष्ट्रीय चेतना, डॉ. देवराज पथिक, पृष्ठ संख्या-२७

११५. पूर्वरत् पृष्ठ संख्या - २८

११६. आधुनिक हिन्दी काव्य, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, पृष्ठ संख्या- २५७